

दूरस्थ शिक्षा— स्व अध्ययन सामग्री

एम०ए० प्रथम वर्ष

द्वितीय प्रश्न पत्र— पालि, प्राकृत एवं भाशा विज्ञान

लेखक

प्रो० योगेश चन्द्र दुबे

अध्यक्ष— संस्कृत विभाग

जगद्गुरु रामभद्राचार्य विकलांग विश्वविद्यालय, चित्रकूट

(उ०प्र०) 210204

संपादक

डॉ० राम सेवक दुबे

एसोसिएट प्रोफेसर— संस्कृत विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

मध्य प्रदेश भोज (मुक्त) विश्वविद्यालय
भोपाल (म०प्र०)

एम0ए0 प्रथम वर्ष

द्वितीय प्र"न पत्र— पालि, प्राकृत एवं भाशा विज्ञान

इकाई—1 (निम्नांकित पाठों से अनुवाद, संस्कृत रूपांतर, व्याकरणात्मक टिप्पणी)

1. बाबेरुजातकम्
2. महाभिनिक्खमनम्
3. मायादेविया सुपिनं
4. महापरिनिव्वान सुत्तं
5. धम्मपद संग्गहो

इकाई—2 (अनुवाद, व्याकरण, संस्कृत रूपांतर)

1. गाहासत्तसई
2. रावणवहो
3. णाणपंचमी कहाओ
4. स्वप्नवासवदत्तम् (चतुर्थ अंक)
5. रत्नावली

इकाई—3 (अनुवाद एवं समीक्षात्मक प्र"न)

1. अपभ्रं" ि मुक्तक संग्गहो
2. सन्दे" िरासकम्
3. पालि, प्राकृत एवं अपभ्रं" ि का विकास एवं वि" ेशतायें)

इकाई—4

1. भाशा का स्वरूप
2. भाशा परिवर्तन के कारण
3. भाशा परिवर्तन की दि" ायें
4. ध्वनि यंत्रों (वाग्यंत्र) का परिचय

इकाई-5

1. वाक्य संरचना सिद्धांत
2. अर्थ विज्ञान सिद्धांत
3. वैदिक और लौकिक संस्कृति का स्वरूप तथा साम्य एवं वैशम्य

संदर्भ ग्रन्थ :

1. पालि, प्राकृत, अपभ्रंश संग्रह— डॉ० राम अवध पाण्डेय
2. प्राकृत, व्याकरण—हेमचन्द्र
3. भाशा विज्ञान— कपिलदेव द्विवेदी
4. वैदिक साहित्य का इतिहास—रामविलास चौधरी

इकाई—1

नोट— निम्नलिखित पाठों से अनुवाद, संस्कृत रूपान्तर एवं व्याकरणात्मक टिप्पणी का अध्ययन करना है—

1. बाबेरुजातकम्
2. महाभिनिक्रमनम्
3. मायादेविया सुपिनं
4. महापरिनिव्वान सुत्तं
5. धम्मपदसंगहो

इकाई—2

नोट— निम्नलिखित पाठों से अनुवाद, संस्कृत रूपान्तर एवं व्याकरणात्मक टिप्पणी का अध्ययन करना है—

1. गाहासत्तसई
2. रावणवहो
3. णाणपंचमी कहाओ
4. स्वप्नवासवदत्तम् (चतुर्थ अंक)
5. रत्नावली

इकाई—3

नोट— इस इकाई के अन्तर्गत वर्णित प्रमुख दो पाठों से हिन्दी अनुवाद तथा अन्य सन्दर्भों से समीक्षात्मक प्रश्नों का अध्ययन करना है—

1. अपभ्रंश मुक्तक संग्रह

2. सन्देह रासकम्

3. पालि, प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषाओं का विकास

मध्यकालीन आर्यभाषा या प्राकृत भाषा

प्रथम प्राकृत (1500 ई०पू० से 1 ई० तक)

द्वितीय प्राकृत (1 ई० से 500 ई० तक)

तृतीय प्राकृत (500 ई० से 1000 ई० तक)

प्रथम प्राकृत या पालिभाषा

पालिभाषा का नामकरण एवं परिचय

पालि भाषा का प्रदेश

पालि भाषा की ध्वनियाँ—ध्वनि प्रक्रिया

पालि की बोलियाँ एवं भाषा रूप

प्रथम प्राकृत—अभिलेखी प्राकृत (अंशिकी अभिलेख एवं अंशिकेतर अभिलेख)

धम्मपद की प्राकृत एवं नियंप्राकृत

मिश्रित बौद्ध संस्कृत

द्वितीय प्राकृत या प्राकृत के भेद—गौरसेनी, पैची, महाराष्ट्री, अर्द्धमागधी एवं मागधी

तृतीय प्राकृत—अपभ्रंश

अपभ्रंश का समय, विशेषतायें

अपभ्रंश की बोलियाँ और आधुनिक भाषाओं से उसका सम्बन्ध

इकाई—4

नोट— प्रस्तुत इकाई के निम्नांकित सन्दर्भों से समीक्षात्मक प्रश्नों का अध्ययन करना है—

1. भाषा का स्वरूप

भाषा की परिभाषा

भाषा की विशेषताएँ एवं प्रकृति

2. भाषा परिवर्तन के कारण

ध्वनि, भाब्द, रूप, अर्थ और वाक्य परिवर्तन एवं अन्य कारण

3. भाषा परिवर्तन की दिशाएँ, स्वरूप और प्रवृत्तियाँ

4. ध्वनियंत्रों (वाग्यंत्रों) का परिचय

हम ध्वनि कैसे उत्पन्न करते हैं?

इकाई—5

नोट— इस इकाई के निम्नांकित सन्दर्भों का समीक्षात्मक दृष्टि से अध्ययन करना है—

1. वाक्य संरचना सिद्धान्त
वाक्य की परिभाषा
वाक्य रचना के आव” यक अंग
वाक्य के अंग
वाक्य रचना
वाक्यों के प्रकार
वाक्य रचना में परिवर्तन के कारण
वाक्य रचना में परिवर्तन की दि” गायें
2. अर्थ विज्ञान सिद्धान्त
अर्थ की प्रतीति
भाब्द और अर्थ का सम्बन्ध
अर्थ बोध के साधन
अर्थ परिवर्तन
अर्थ परिवर्तन की दि” गायें (प्रकार)
अर्थ विस्तार
अर्थ संकोच
अर्थादे” ।
अर्थ परिवर्तन के कारणों का आधार
अर्थ परिवर्तन के कारण
3. वैदिक और लौकिक संस्कृत का स्वरूप तथा साम्य एवं वैशम्य

इकाई -1

बावेरुजातकम्

अतीते वाराणसियं ब्रह्मदत्ते रज्जं कारेन्ते बोधिसत्तो मोरयोनिं निब्वत्तित्वा बुद्धिं अन्वाय सोभाग्गप्पत्तो अञ्जने विचरि। तदा एकच्चे वाणिजा दिसासाकं गहेत्वा नाबाय बावेरुरट्ठं अगमंसु। तस्मि किर काले बावेरुरट्ठे सकुणा नाम नत्थि। आगतागता रट्ठवासिनो तं कूपग्गे निसिन्नं दिस्वा पस्सथि' मस्स छविवण्णं गलपरियोसानं मुखतुण्डकं मणिगुळसदिसानि अक्खीनति। काकं एवं पसंसित्वा ते वाणिजके आहंसु, इमं अय्यो सकुणं अम्हाकं देथ, अम्हाकं हि इमिना अत्थो, तुम्हे अत्तनो रट्ठे अञ्जं लभिस्सथा' ति। तेन हि मूलेन गण्हथा' ति। कहापणेन नो देथा' ति। न देमा'ति। अनुपुब्बेन वड्ढेत्वा सतेन देथा'ति वुत्ते अम्हाकं एस बहूपकारो, तुम्हेहि पन सद्धिं मेत्ती होतू' ति कहापणसतं गहेत्वा अदंसु। ते तं गहेत्वा सुवण्णपंजरे पक्खित्वा नानप्पकारेण मच्छमंसेन चे' व फलाफलेन च पटिजग्गिस। अञ्जं सकुणानं अविज्जमानट्ठाने दसहि असद्धम्मोहि समन्नागतो काको लाभग्गयसग्गप्पत्तो अहोसि। पुनवारे ते वाणिजा एकं मयूरराजानं गहेत्वा यथा अच्छरासहेन वस्सति पाणिप्पहारसहेन नच्चति एवं सिक्खापेत्वा बावेरुरट्ठं अगमंसु। सो महाजने सन्निपतिते नावाय धुरे ठत्वा पक्खे विधूनित्वा मधुररस्सरं निच्छारेत्वा नच्चि। मनुस्सा तं दिस्वा सोमनस्सजाता- एतं अय्यो सोभाग्गप्पत्तं सुसिक्खितसकुणराजानां अम्हाकं देथा' ति आहंसु। अम्हेहि पठमं काको आनीतो, तं गण्हित्थ' इदानि एतं मोरराजानं आनायिम्ह, एतम्पि याचथ। तुम्हाकं रट्ठे सकुणं नाम गहेत्वा आगन्तुं न सक्का' ति। होतु अय्यो, अत्तनो रट्ठे अञ्जं लभिस्सथ, इमं नो देथा' ति मूलं वड्ढेत्वा सहस्सेन गण्हिसु। अथ नं सत्तरतनविचित्ते मञ्जरे ठपेत्वा मच्छमंसफलाफलेहि चे'व मधुलाजासक्खरापानकादीहि च पटिजग्गिसु। मयूरराजा लाभग्गयसग्गप्पत्तो जातो। तस्सागतकालतो पट्ठाय काकस्स लाभसक्कारो परिहायि, कोचि नं आलोकितुं पि न इच्छि। काको खादनीय-भोजनीयं अलभमानो काका'ति वस्सन्तो गन्त्वा उक्कारभूमियं ओतरि। अदस्सनेन मोरस्स सिखिनो मञ्जुभाणिनो। काकं तत्थ अपूजेसुं मंसेन च फलेन च।। यदा च सरसम्पन्नो मोरो बावेरुमागमा। अथ लाभो च सक्कारो वायसस्स अहायथ।।

याव नुप्पज्जति बुद्धो धम्मराजा पभंकरो ।
तव अंजे अपूजेसुं पुथू समणब्राह्मणे ।।
यदा च सरसम्पन्नो बुद्धो धम्मं अदेसयि ।
अथ लाभो च सक्कारो तित्थियानं अहायथा' ति ।।

संस्कृत में अनुवाद—

अतीते वाराणस्यां ब्रह्मदत्ते राज्यं कुर्वति बोधिसत्त्वः मयूरयोण्यां निर्वृत्य बुद्धिमन्वित्य सौभाग्यप्राप्तः अरण्ये व्यचारीत् । तदैकत्याः वणिजः दिक्काकं गृहीत्वा नावा बावेरुराष्ट्रमगमन् । तस्मिन् किल काले बावेरुराष्ट्रे शकुनाः नाम न सन्ति । आगताः राष्ट्रवासिनः तं कूपाग्रे निषण्णं दृष्ट्वा पश्चतास्य छविवर्णं गलपर्यवसानं मुखतुण्डकं मणिगुलकसदृशेऽक्षिणीति काकमेवं प्रशस्य ते वणिजः अवोचन्— इदमार्यः शकुनमस्मभ्यं ददातु । अस्माकं ह्यनेनार्थः यूयमात्मनः राष्ट्रे अन्यम् लप्स्यध्वे । तेन हि मूल्येन गृणीत इति । कार्षापणेन नो दत्तेति । न दत्त इति । आनुपूर्व्येण वर्धयित्वा शतेन दत्तेत्युक्तेऽस्माकमेष बहूपकारः । युष्माभिः पुनः सार्धं मैत्री भवत्विति कार्षापणशतं गृहीत्वादुः । ते तं गृहीत्वा सुवर्णपंजरे प्रक्षिप्य नानाप्रकारेण मत्स्यमांसेन चैव फलाफलेन च प्रत्यग्रहीषुः । अन्येषां शकुनानामविद्यमानस्थाने दशभिरसद्धर्मैः समन्वागतः काकः लाभग्रयशोग्रप्राप्तोऽभूत् । पुनर्वारं ते वणिजः एकं मयूरराजं गृहीत्वा यथाक्षत्रशब्देन वाश्यते, पाणिप्रहारशब्देन नृत्यत्येवं शिक्षयित्वा बावेरुराष्ट्रमगमन् । स महाजने सन्निपतिते, नावा धुरि स्थित्वा पक्षौ विधूय मधुरस्वरं निस्सार्य अनर्तीत् । मनुष्याः तं दृष्ट्वा सौमनस्यजाताः—

एनमार्याः! प्राप्तसौभाग्यं सुशिक्षितं शकुनराजमस्मभ्यं दत्तेत्यवोचन् । अस्माभिः प्रथमं काकः अनीतः तमग्रहीष्टेदानीमेतं मयूरराजमानैषिष्म एनमपि याचथ । युष्माकं राष्ट्रे शकुनं नाम गृहीत्वागन्तुं न शक्यम् । भवत्वार्यः आत्मनः राष्ट्रे अन्यं लप्स्यसे, इमं नो ददातु । मूल्यं वर्धयित्वा सहस्रेणाग्रहीषुः । अथैनं सप्तरत्नविचित्रे पंजरे स्थापयित्वा मत्स्य—मांसफलाफलैश्चैव मधुलाजाशर्करापानकादिभिश्च प्रत्यग्रहीषुः । मयूरराजः लाभाग्र—यशोग्रप्राप्तो जातः । तस्यागतकालतः प्रस्थाय काकस्य लाभसत्कारः पर्यहायि । कश्चिदप्येनमवलोकयितुमपि नैषीत् । काकः खादनीयं भोजनीयमलभमानः काकेति वाश्यमानो गत्वोत्करभूमौ अवातरीत् ।

अदर्शनेन मयूरस्य शिखिनो मंजुभाषिणः ।

काकं तत्रापूजन् मांसेन च फलेन च ।।

यदा च स्वरसम्पन्नः मयूरो बावेरुमागमत् ।
अथ लाभश्च सत्कारो वायसस्याहायि ॥
यावन्नोत्पद्यते बुद्धो धर्मराजः प्रभाकरः ।
तावदन्येऽपूज्यन्त पृथक् श्रमणब्राह्मणाः ॥
यदा च स्वरसम्पन्नः बुद्धो धर्ममदिक्षत् ।
अथ लाभश्च सत्कारः तैर्थिकानामहार्यि ॥

हिन्दी अनुवाद—

अतीत काल में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के शासन—काल में बोधिसत्व मयूरयोनि में निवृत्त होकर, बुद्धि तथा सौभाग्य प्राप्त कर जंगल में विचरण कर रहे थे। कुछ बनिये दिशा—काक को लेकर नाव से बावेरुराष्ट्र गये। उस समय बावेरुराष्ट्र में कोई पक्षी नहीं था। आते—जाते हुए राष्ट्रवासी, कूप पर बैठे हुए उसको देखकर इसके वर्णछवि, गले तक फैले हुए चोंच एवं मणि के सदृश आँखों को देखो।' इस प्रकार काक की प्रशंसा कर उन लोगों ने बनियों से कहा— हे आर्य, इस पक्षी को हम लोगों को दे दें। हम लोगों को इससे तात्पर्य है। आप लोग अपने राष्ट्र में दूसरा प्राप्त कर लीजियेगा। इसलिए मूल्य ले लीजिए। एक कार्षापण में इसे हमें दे दीजिए। नहीं देंगे।' (इस प्रकार) क्रमशः (मूल्य) बढ़ाकर (कहा) सौ (कार्षापण) में दे दीजिए। हम लोगों का यह बहुत उपकार होगा तथा आप लोगों के साथ मित्रता हो जायेगी।' सौ कार्षापण लेकर (उसे) दे दिया। वे उसे लेकर सुवर्ण—पज्जर में डालकर नाना प्रकार के मत्स्यमांस, फलाफल द्वारा उसका सत्कार करने लगे। अन्य पक्षियों के अभाव में दश असद्धर्मों से युक्त कौआ लाभ एवं यश प्राप्त करने लगा। दूसरे दिन वे बनिये एक मयूर—राजको जिससे अक्षर कहने पर बोले, हथेली के प्रहार के शब्द से नृत्य करे' ऐसा सिखाकर बावेरुराष्ट्र लाये। वह महाजनों के एकत्र होने पर नाव की धुरी पर स्थित हो पंखों को फैलाकर, मधुर—स्वर निकालकर नाचने लगा। उसे देखकर मनुष्य प्रसन्न हो गये। आर्य! सौभाग्यशाली सुशिक्षित इस पक्षिराज को हमें दे दें', ऐसा कहा। हम पहले कौआ लाये, उसे ले लिया, इस समय मयूरराज को लाये इसको भी माँग रहे हो। आप लोगों के राष्ट्र में पक्षी लेकर नहीं आया जा सकता।' हे आर्य! अपने राष्ट्र में दूसरा (पक्षी) प्राप्त कर लीजियेगा, इसे हमें दे दें।' (इस प्रकार) मूल्य बढ़ाकर हजार (कार्षापण) से ले लिया। इसे सात रत्नों से

बने विचित्र पिंजरे में स्थापित करके मत्स्यमांस, फलाफल, मधु, शक्कर, पानक आदि से इसका सत्कार करने लगे। मयूराज लाभ एवं यश प्राप्त करने लगे। उसके आने के समय से कौए का लाभ एवं सत्कार बन्द हो गया। कोई इसे देखना भी नहीं चाहता था कौआ भोजन आदि न प्राप्त करता हुआ 'काँव-काँव' ऐसा कहता हुआ जाकर उच्चार (शौचालय) भूमि में उतर गया।

मंजुभाषी मयूर के अदर्शन से मांस एवं फल द्वारा कौआ पूजा जाता था। जब स्वरसम्पन्न मयूर बावेरु आया तब कौए का लाभ-सत्कार त्याग दिया गया। जब तक धर्मराज प्रभाकर बुद्ध उत्पन्न नहीं हुए तब तक अन्य श्रमण ब्राह्मण पूजे जाते थे। जब स्वर-सम्पन्न बुद्ध ने धर्म का उपदेश दिया तब तैर्थिकों का लाभ-सत्कार त्याग दिया गया।

पालि-संगहो
बुद्धिचरितं
मायादेविया सुपिनं

तदा किर कपिलवत्थुनगरे आसाळ्हीनक्खत्तं घुट्ठं अहोसि। महाजनो नक्खत्तं कीळेति। महामायादेवी पुरे पुण्णमाय सत्तमदिवसतो पट्ठाय विगत-सुरपानं मालागन्धविधूतिसम्पन्नं नक्खत्तकीळं अनुभवमाना सत्तमदिवसे पातो व उट्ठाय गन्धोदकेन नहायित्वा चत्तारि सतसहस्सानि विस्सेज्जेत्वा महादानं दत्त्वा सब्बालंकारविभूसिता वरभोजनं भुंजित्वा उपोसथंगानि अधिट्ठाय अलंकतपटियत्तं सिरिगम्भं पविसित्वा सिरिसयने निपन्ना निदं ओक्कममाना इद सुपिनं अदस्स- चत्तारो किर नं महाराजानो सयनेनेव सद्धिं उक्खित्वा हिमवन्तं नेत्वा सद्धियोजनिके मनोसिलातले सत्तयोज-निकस्स महासालरुक्खस्स हेट्ठा ठपेत्वा एकमन्तं अट्ठंसु। अथ नेसं देवियो आगन्त्वा देवि अनोतत्तदहं नेत्वा मानुसमलहरणत्थं नहापेत्वा दिब्बवत्थं निवासापेत्वा गन्धेहि विलिम्पापेत्वा दिब्बपुप्फानि पिलन्धापेत्वा-ततो अविदूरे रजतपब्बतो, तस्स अन्तो कनकविमानं अत्थि-तत्थ पाचीनसीसकं दिब्बसयनं पंजापेत्वा निपज्जापेसं। अथ बोधिसत्तो सेतवरवारणो हुत्वा- ततो अविदूरे एको सुवण्णपब्बतो-तथ चरित्वा ततो ओरुय्ह रजतपब्बत्तं अभिरुहित्वा उत्तरदिसतो आगम्म रजतदामवण्णाव सोण्डाय सेतपदुमं गहेत्वा कोंचनादं नदित्वा कनकविमानं पविसित्वा मातुसयनं तिक्खत्तुं पदक्खिणं कत्वा दक्षिणपस्सं ताळेत्वा कुच्छि पविट्ठसदिसो अहोसि। एवं उत्तरासाळ्हनक्खत्तेन पटिसन्धि गण्हि। पुनदिवसे पबुद्धा देवी तं सुपिनं रंजो आरोचसि। राजा चतुसट्ठित्तो ब्राह्मणपामोक्खे पक्कोसापेत्वा हरितयवुपत्थाय लाजादोहि कतमंगलसक्काराय भूमिया महारहानि आसानानि पंजापेत्वा तत्थ निसिन्नानं ब्राह्मणानं सप्पिमधुसक्कराभिसंगतस्स वरपाय-सस्स सुवण्णरजतपातियो पूरेत्वा सुवण्णरजतपातीहि येव पटिकुज्जेत्वा अदासि, अंजेहि च अहतवत्थकपिलगाविदानादीहि ते सन्तप्पेसि। अथ तेसं सब्बकामेहि सन्तप्पितानं सुपिनं आरोचेत्वा- किं भविस्सती'ति पुच्छि। ब्राह्मणा आहंसु- मा चिन्तयि महाराज, देविया ते कुच्छिम्हि गम्भो पतिट्ठित्तो, सो च खो पुरिसगम्भो न इत्थिगम्भो, पुत्तो ते भविस्सति, सो सचे अगारं अज्झावसिस्सति राजा भविस्सति चक्कवत्ती, सचे अगारा निक्खम्म पब्बजिस्सति बुद्धो भविस्सति लोके विवट्ठच्छदो'ति।

निदानकथा जातक

संस्कृत अनुवाद

तदा किल कपिलवस्तुनगरे आषाढनक्षत्रं घुष्टमासीत्। महाजनो नक्षत्रं क्रीडति। महामायादेवी पुरः पूर्णिमायाः सप्तमदिवसतः प्रस्थाय विगतसुरापानां मालागन्धविभूतिसम्पन्नां नक्षत्रक्रीडामनुभवन्ती सप्तमदिवसे प्रातरेवोत्थाय गन्धोदकेन स्नात्वा चत्वारि शत सहस्राणि विसृज्य महादानं दत्त्वा सर्वालंकारविभूषिता वरभोजनं भुङ्क्त्वोपवसथांगान्यधिष्ठायालङ्कृतपर्याप्तं श्रीगर्भं प्रविश्य श्रीशयने निपन्ना निद्रामवक्रममाणेन स्वप्नमद्राक्षीत्—चत्वारः किल नूनं महाराजाः शयनेनैव सधीडुत्क्षिप्य हिमवन्तं नीत्वा षष्टियोजनिके मनःशिलातले सप्तयोजनिकस्य महाशालवृक्षस्याधस्तात् स्थापयित्वैकस्मिन्नन्तेऽस्थुः। अथ निशायां देव्यः आगत्य देवीमनवतप्तहृदं नीत्वा मानुषमलहरणार्थं स्नापयित्वा दिव्यवस्त्रं निवास्य गन्धैः विलिप्य दिव्यपुष्पाणि पिनाह्य ततोऽविदूरे रजतपर्वतः तस्यान्ते कनकविमानमस्ति तत्र प्राचीनशीर्षकं दिव्यशयनं प्रज्ञाप्य न्यपादिषत्। अथ बोधिसत्त्वः श्वेतवरवारणो भूत्वा—ततोऽविदूरे एकः सुवर्णपर्वतः तत्र चरित्वा ततोऽवरुह्य रजतपर्वतमभिरुह्योत्तरदिशातः आगत्य रजतदामवर्णया शुण्डया श्वेतपद्मं गृहीत्वा कौचनादं नदित्वा कनकविमानं प्रविश्य मातुःशयनं त्रिः कृत्वः प्रदक्षिणां कृत्वा दक्षिणपार्श्वं ताडयित्वा कुक्षिं प्रविष्ट—सदृशोऽभूत्। एवमुत्तराषाढनक्षत्रेण प्रतिसन्धिमग्रहीत्। पुनः दिवसे प्रबुद्धा देवी तत्स्वप्नं राजानमारुरुचत्। राजा चतुष्षष्टिमात्रान् ब्राह्मणप्रमुखान् प्राक्रुश्य हरितयवानुप—स्थाय लाजादिभिः कृतमंगलसत्कारायां भूमौ महार्हाण्यासनानि प्रज्ञाप्य तत्र निषण्णेभ्यो ब्राह्मणेभ्यः सर्पिमधुशर्कराभिः संस्कृतस्य वरपायसस्य सुवर्णरजतपात्रीः पूरयित्वा सुवर्णरजतपात्रीभिरेव प्रतिकुज्यादाद्, अन्यैश्चाहतवस्त्रकपिलगोदानादिभिस्तान् समतीतृपत्। अथ तेषां सर्वकामैः सन्तर्पितानां स्वप्नमारोच्य—किं भविष्यतीत्यप्राक्षीत्। ब्राह्मणाः अवोचन्—मा चिन्तय महाराज, देव्यास्ते कुक्ष्यां गर्भः प्रतिष्ठितः, स च खलु पुरुषगर्भः, न स्त्रीगर्भः, पुत्रस्ते भविष्यति चेदागारमध्यावत्स्यति राजा भविष्यति चक्रवर्ती, चेदागारात् निष्क्रम्य प्रव्रजिष्यति बुद्धो भविष्यति लोके विवर्तच्छद इति।

हिन्दी अनुवाद—

उस समय कपिलवस्तु नगर में आषाढ नक्षत्र था। महाजन लोग (बड़े लोग) नक्षत्रक्रीड़ा कर रहे थे। पूर्णिमा से सात दिन पूर्व से ही सुरापान को छोड़कर माला, सुगन्धि आदि ऐश्वर्य से सम्पन्न हो, नक्षत्रक्रीड़ा का अनुभव करती हुई, सातवें दिन प्रातःकाल ही उठकर

सुगन्धि—जल से स्नान कर, चार सौ हजार मुद्रा विसर्जित कर महादान देकर सम्पूर्ण अलंकारों से विभूषित होकर पवित्र भोजन करके श्रीगर्भ में प्रवेश कर श्रीशयन पर निद्रामग्न महामाया देवी ने यह स्वप्न देखा—चार महाराजा उसको पलंग के साथ ही उठाकर हिमवान् पर्वत पर ले जाकर, साठ योजन लम्बे मनःशिलातल पर सात योजनवाले महाशाल वृक्ष के नीचे रखकर एक तरफ बैठ गये। तदनन्तर इनकी देवियों ने आकर, देवी को अनवतप्त हृद (तालाब) में ले जाकर मानुषसुलभ मल को हटाने के लिए स्नान कराकर, दिव्य वस्त्र पहनाकर सुगन्धित पदार्थों का लेपकर, दिव्य पुष्पों को पहनाकर उस हृद के समीप ही रजत पर्वत के नीचे कनकविमान के पूर्वी कोण में दिव्य (आसन) लगा दिया। तब बोधिसत्त्व श्रेष्ठ श्वेत हाथी बनकर समीपस्थ एक सुवर्ण पर्वत से नीचे उतरकर, पास के रजत पर्वत पर चढ़कर, उत्तर दिशा से आकर, रजत की रस्सी के वर्णवाली सूँड़ से श्वेतकमल को ग्रहण कर, क्रौंचनाद करके कनकविमान में प्रविष्ट हो, माता के शयन को तीन बार प्रदक्षिणा कर, दाहिने पार्श्वभाग को आहत कर कुक्षि में प्रविष्ट की भाँति हो गये। इस प्रकार उन्होंने उत्तराषाढ नक्षत्र से ही प्रतिसन्धि प्राप्त की। दूसरे दिन प्रातः जगकर देवी ने उस स्वप्न को राजा से निवेदित किया। राजा ने चौंसठ प्रमुख ब्राह्मणों को बुलाकर उनका हरित यव तथा लाजा आदि मंगल सत्कार से युक्त भूमि पर बहूमूल्य आसनों को बिछाकर, उन पर बैठे हुए उन ब्राह्मणों को घी, मधु, शक्कर आदि से सुसंस्कृत खीर से सुवर्ण एवं रजत की थालियों से ही ढँककर दे दिया तथा अन्य नूतन वस्त्र, कपिला गौ आदि के दान से उन्हें सन्तुष्ट किया।

तदनन्तर सम्पूर्ण कामनाओं से सन्तुष्ट उन ब्राह्मणों से देवी का वह स्वप्न सुनाकर क्या होगा' ऐसा पूछा। ब्राह्मणों ने कहा— हे महाराज! आप चिन्ता न करें, आपकी देवी की कुक्षि में गर्भ प्रतिष्ठित हो गया है, वह पुरुषगर्भ है, स्त्रीगर्भ नहीं। आपको पुत्र होगा। यदि वह घर पर रहेगा तो चक्रवर्ती राजा होगा तथा यदि घर से निकल कर प्रव्रज्या धारण करेगा तो संसार में अज्ञान के आवरण से रहित बुद्ध होगा।

महाभिनिक्खमनं

तस्मिं समये राहुलमाता पुत्तं विजाता' ति सुत्वा सुद्धोदनमहाराजा पुत्तस्स में तुट्ठि निवेदथा'ति सासनं पहिणि। बोधिसत्तो तं सुत्वा 'राहुलो जातो, बन्धनं जातं' ति आह। राजा किं मे पुत्तो अवचा' ति पुच्छित्वा तं वचनं सुत्वा इतो पट्टाय मे नत्तु राहुलकुमारो त्वेव नामं

होतू' ति। बोधिसत्तो पि खो रथवरं आरुह्य महन्तेन यसेन अतिमनोरमेन सिरिसोभग्गेन नगरं पाविसि। तस्मिं समये किसागोतमी नाम खत्तियकंजा उपरिपासादवरत—लगता नगरं पदक्खिणं कुरुमानस्स बोधिसत्तस्स रूपसिरिं दिस्वा पीतिसोम—नस्सजाता इमं उदानं उदानेसि—

निब्बुता नून सा माता, निब्बुतो नून सो पिता।

निब्बुता नून सा नारी, यस्सायं ईदिसो पती'ति।।

बोधिसत्तो तं सुत्वा चिन्तेसि— अयं एवं आह—एकरूपं अत्तभावं परस्सन्तिया मातुहदयं निब्बायति, पितुहदयं निब्बायति, पजापतिहदयं निब्बायति। करिंम नु खो निब्बुते हदयं नाम होती' ति? अथस्स किलेसेसु विरत्तमानसंस्स एतदहोसि— रागग्गिम्हि निब्बुते निब्बुतं नाम होति, दोसग्गिम्हि, मोहग्गिम्हि निब्बुते निब्बुतं नाम होति, मानदिट्ठि—आदिसु सब्बकिलेसदरथेसु निब्बुतेसु निब्बुतं नाम होति, अयं मे सुस्सवनं सावेसि, अहं हि निब्बानं गचेसन्तो चरासि। अज्जेव मया घरावासं छडेत्वा निक्खम्भ पब्बजित्वा निब्बानं गवेसितुं वट्टति। अयं इमिस्सा आचरियभागो होतू' ति कण्ठतो ओमुचिंत्वा किसागोतमिया सतहस्सग्घनकं मुत्ताहारं पेसेसि। सा सिद्धत्थकुमारो मयि पटिबद्धचितो हुत्वा पण्णाकारं पेपेती' ति सोमनस्सजाता अहोसि। बोधिसत्ता पि महन्तेन सिरिसोभग्गेन अत्तनो पासादं अभिरुहित्वा सिरिसयने निपज्जि। तावदेव नं सब्बालंकारपटिमण्डिता नच्चगीतादिसु सुसिक्खिता देवकंजा विय रूपप्यत्ता इत्थियो नानातुरियानि गहेत्वा सम्परिवारयित्वा अभिरमापेन्तियो नच्चगीतवादितानि पयोजयिंसु। बोधिसत्तो किलेसेसु विरत्तचित्तताय नच्चादिसु अनभिरतो मुहुत्तं निदं ओक्कमि। तापि इत्थियो यस्सत्थाय मयं नच्चादीनि पयोजया मसो निदं उपगतो, इदानिं किमत्थं किलमामा' ति गहितगहितानि तुरियानि अज्झोत्थरित्वा निपज्जिसु। गन्धतेलप्पदीपा ज्ञायन्ति। बोधिसत्तो पबुज्जित्वा सयनपिट्ठे पल्लंकेन निसिन्नो अदस्स—ता इत्थियो तुरियभण्डानि अवत्थरित्वा निदायन्तियो एकच्चा पग्घरितखेळा लालाकिलिन्नगता, एकच्चा दन्ते खादन्तियो, एकच्चा काकच्छन्तियो, एकच्चा विप्पलपन्तियो, एकच्च विवटमुखा, एकच्चा अपगतवत्था पकट बीभच्छसम्बाधट्टाना। सो तासं तं विप्पकारं दिस्वा भिय्योसोमत्ताय कामेसु विरतो अहोसि। तस्स अलंकतपरियत्तं सक्कभवनसदिसं पि तं महातलं विप्पविद्वनानाकुणपभरितं आमकसुसानं विय उपट्ठासि। तयो भवा आदित्त—गेहसदिसा विय खायिंसु। उपद्दुत्तं वत भो, उपस्सट्ठं वत भो' उदानं पवत्ति। अतिविय पब्बज्जाय चित्तं नामि। सो अज्जेव मया महाभिनिक्खमनं निक्खमितुं वट्टति' ति सयना उट्ठाय द्वारसमीपं

गन्त्वा— को एत्था'ति आह । उम्मारे सीसं कत्वा निपन्नो छन्नो अहं अय्युपुत्त छन्नो' ति आह । अहं अज्ज महाभिनिक्खमनं निक्खमितुकामो, एकं मे अस्सं कप्पेही'ति । सो साधु देवा'ति अरसभण्डकं गहेत्वा अस्ससालं गत्वा गन्धतेलप्यदीपेसु जलन्तेसु सुमनपट्टवितानस्स हेट्ठा रमणीये भूमिभागे ठितं कन्थकं अस्सराजानं दिस्वा अज्ज मया इमं एव कप्पेतुं वट्टती'ति कन्थकं कप्पेसि । सो कप्पियमानो व अंजासि— अयं कप्पना अतिगाळहा, अंजेसु दिवसेसु उंजानकीळादिगमने कप्पना विय न होति, मय्हं अय्यपुत्तो महाभिनिक्खमनं निक्खमितु—कामो भविस्सती'ति । ततो तुट्टमानसो महाहसितं हसि । सो सद्धो सकल—नगरं पत्थरित्वा गच्छेय्या, देवता पन तं सद्धं निरुम्भित्वा न कस्सचि सोतुं अदंसु । बोधिसत्तो पि खो छन्नं पेसेत्वा व पुत्तं ताव पस्सिस्सामी' ति चिन्तेत्वा निसिन्नपल्लंकोत वुट्टाय राहुलमाताय वसनट्टानं गन्त्वा गब्भद्वारं विवरि । तस्मिं खणे अन्तागब्भे गन्धतेलप्यदीपो ज्ञायति । राहुलमाता सुमन—मल्लिकादीनं पुष्फानं अम्मणमत्तेन अभिप्पकिण्णसयने पुत्तस्स मत्थके हत्थं ठतेत्वा निद्वायति । बोधिसत्तो उम्मारे पादं ठपेत्वा ठितको व ओलोकेत्वा— स चाहं देविया हत्थं अपनेत्वा मम पुत्तं गणिहस्सामि देवी पबुज्झिस्सति, एवं मे गमनन्तरायो भविस्सति, बुद्धौ हुत्वा व आगन्त्वा पस्सिस्सामी' ति पासाद—तलतो ओतरि ।

—निदानकथा जातक

संस्कृत अनुवाद—

तस्मिन् समये राहुलमाता पुत्र व्यजायतेति श्रुत्वा शुद्धोदनमहाराजः— पुत्रस्य मे तुष्टिर्निवेदयतेति शासनं प्रैषीत् । बोधिसत्त्वः तच्छ्रुत्वा राहुलोजातः, बन्धनं जातम्' इत्याह । राजा— किं मे पुत्रः अवोचदिति पृष्ट्वा तद्वचनं श्रुत्वा इतः प्रस्थाय मे नप्तुः राहुलकुमारस्त्वेव नाम भवत्विति । बोधिसत्त्वोऽपि खलु रथवरमारुह्य महता यशसातिमनोरमेण श्रीसौभाग्येन नगरं प्राविक्षत । तस्मिन् समये कृशागोतमी नाम क्षत्रियकन्योपरिप्रासादावरतलगता नगरं प्रदक्षिणां कुर्वतः बोधिसत्त्वस्य रूपश्रियं दृष्ट्वा प्रीतिसौमनस्यजातेदमवदानमवादीत्—

निर्वृत्ता नूनं सा माता, निर्वृत्तः नूनं स पिता ।

निर्वृत्ता नूनं सा नारी यस्या अयमीदृशः पतिः' ।। इति

बोधिसत्त्वः तच्छ्रुत्वाचिचिन्तत्—इयमेवमाह—एवं रूपमात्मभावं पश्यन्त्या मातुर्हृदयं निर्वायते, पितुर्हृदयं निर्वायते, प्रजापतिर्हृदयं निर्वायते । कस्मिन्नुखलु निर्वृत्ते हृदयं निर्वृत्तं नाम भवतीति ।

अथास्य क्लेशेषु विरक्तमानसस्यैतदभूत्—रागाग्नौ निर्वृत्ते निर्वृत्तं नाम भवति, दोषाग्नौ, मोहाग्नौ निर्वृत्तं नाम भवति, मानदृष्ट्यादिषु सर्वक्लेशादिषु निर्वृत्तेषु निर्वृत्तं नाम भवतीदं मे सुश्रवणमश्रुवद्, अह हि निर्वाणं गवेषयन् चरामि। अद्यैव मया गृहावासं छर्दयित्वा निष्क्रम्य प्रव्रज्य निर्वाणं गवेषितुं वर्तते। अयमस्या आचार्यभागः भवत्विति कण्ठतः अवमुच्च कृशागौतम्यै शतसहस्रार्घणकं मुक्ताहारं प्रैषिषत्। सा सिद्धार्थकुमारो मयि प्रतिबद्धचितो भूत्वा पण्यकारं प्रैषिषत् इति सौमनस्यजाताभूत्। बोधिसत्त्वोऽपि महता श्रीसौभाग्येनात्मनः प्रासादमभिरुह्य श्रीशयने न्यपादि। तावदेव नूनं सर्वालंकाराप्रतिमण्डिताः नृत्यगीतादिषु मुशिक्षिताः देवकन्या इव प्राप्तरूपाः स्त्रियः नानातूर्याणि गृहीत्वा सम्प्रवार्याभिरमयन्त्यो नृत्यगीतवादित्राणि प्रायूयुजन। बोधिसत्त्वः क्लेशेषु विरक्तचित्ततया नृत्यादिष्वनभिरतः मूहूर्त्तं निद्रामवाक्रमीत्। ता अपि स्त्रियः यस्यार्थं वयं नृत्यादीन् प्रयोजयामः स निद्रामुपगतः, इदानीं किमर्थं क्लाम्यामः इति गृहीतगृहीतानि तूर्याण्यध्यवस्तीर्य न्यापदिषत्। गन्धतैलप्रदीपा ध्यायन्ति। बोधिसत्त्वः प्रबुध्य शयनपृष्ठे पर्यंकेण निषण्णः अद्राक्षीत्—ताः स्त्रियः तूर्यभाण्डानि अवस्तीर्य निद्रायमाणाः एकत्याः प्रक्षरितक्ष्वेडाः क्लिन्नगात्राः एकत्याः दन्तान् खादन्त्यः एकत्याः काकथ्यमानाः एकत्याः विप्रलपन्त्यः एकत्याः विवृतमुखाः एकत्याः अपगतवस्त्राः प्रकटबीभत्ससंबाधस्थानाः। स तासां विप्रकारं दृष्ट्वा भूयः सुमात्रता कामेषु विरक्तोऽभूत्। तस्या पर्याप्तालङ्कृतं शक्रभवन—सदृशमपि तद् महातलं विप्रवृद्धनानाकुणपभृदामकश्मशानमिवोपास्थात्। त्रयो भवाः आदीप्तगेहसदृशा इव ज्वलिताः। उपद्रुतं बत भो, उपसृष्टं बत भो इत्यवदानं प्रावर्ति। अतीव प्रव्रज्यायै चित्तमनंसीत्। सः अद्यैव मया महाभिनिष्क्रमणं निष्क्रमितुं वर्तते इति शयनादुत्थाय द्वारसमीपं गत्वा कोऽत्र इत्याह। उम्मारे शीर्षं कृत्वा निपन्नश्छन्दः— अहमार्यपुत्र! छन्दः इत्याह।

अहमद्य महाभिनिष्क्रमणं निष्क्रमितुकामः, एकं मेऽश्व कल्पय इति। स साधु देव! इत्यश्वभाण्डकं गृहीत्वाश्वशालां गत्वा गन्धतैलप्रदीपेषु ज्वलत्सु सुमनःपट्ट—वितानस्याधस्तात् रमणीये भूमिभागे स्थितं कन्थकमश्वराजं दृष्ट्वा— अद्यायमेव मया कल्पनीयो वर्तते इति कन्थकमक्लृप्त। स कल्पयन्नेवाज्ञासीत्—इयं कल्पनातिगाढा, अन्येषु दिवसेषूद्यानक्रीडादिगमने कल्पनैव न भवति, अस्माकमार्यपुत्रो महाभिनिष्क्रमणं निष्क्रमितुकामः भविष्यतीति, ततः तृष्टमानसः महाहसितमहासीत्। स शब्दः सकलनगरं प्रस्तीर्य गच्छेत्, देवताः पुनस्तं शब्दं निरुध्य न कञ्चित् श्रोतुमदुः। बोधिसत्त्वोऽपि खलु छन्दं प्रेष्यैव पुत्रं तावद्द्रक्ष्यामीति चिन्तयित्वा निषण्णपर्यंगतः

उत्थाय राहुलमातुः वसनस्थानं गत्वा गर्भद्वारं व्यवीवरत् । तस्मिन् क्षणे अन्तर्गर्भे गन्धतैलप्रदीपः
ध्यायति । राहुलमाता सुमनोमल्लिकादीनां पुष्पाणामर्मणमात्रेणाभि-प्रकीर्णशयने पुत्रस्य मस्तके हस्तं
स्थापयित्वा निद्रायते स्म । बोधिसत्त्व उम्मारे पादं स्थापयित्वा स्थित एवावलोक्य चेदहं देव्याः
हस्तमपनीय स्वपुत्रं ग्रहीष्यामि देवी प्रभोत्स्यते, एवं मम गमनान्तरायो भविष्यति, बुद्धो भूत्वैवागम्य
द्रक्ष्यामि' इति प्रासादतलतोऽवातरत् ।

हिन्दी अनुवाद—

उस समय राहुल की माता ने पुत्र उत्पन्न किया है—यह सुनकर महाराज शुद्धोधन ने
आदेश दिया कि मेरे पुत्र को यह शुभ समाचार सुनाओ । बोधिसत्त्व ने यह सुनकर राहुल
उत्पन्न हुआ, बन्धन उत्पन्न हुआ' ऐसा कहा । मेरे पुत्र ने क्या कहा' यह पूछकर उसके वचन
को सुनकर राजा ने कहा—आज से मेरे नाती (नप्ता) का नाम राहुलकुमार ही हो । बोधिसत्त्व
भी श्रेष्ठ रथ पर चढ़कर महान् यश से सम्पन्न होकर अत्यन्त मनोरम श्री-सौभाग्य से युक्त
होकर नगर में प्रविष्ट हुए । उस समय प्रासाद के बरामदे पर खड़ी हुई कृशागौतमी नाम की
क्षत्रिय-कन्या ने नगर की प्रदक्षिणा करते हुए बोधिसत्त्व के रूप एवं शोभा को देखकर प्रसन्न
होकर इस गाथा को कहा—

वह माता निर्वृत्त (सफल) हो गयी, वह पिता निर्वृत्त हो गया (जिसका ऐसा पुत्र है)
तथा वह स्त्री निर्वृत्त हो गयी जिसका ऐसा पति है' ।

बोधिसत्त्व यह सुनकर सोचने लगे— इसने ऐसा कहा कि इस प्रकार के रूप एवं
सौमनस्य को देखते हुए माता का हृदय निर्वृत्त हो जाता है, पिता का हृदय निर्वृत्त हो जाता है,
प्रजापति (नारी) का हृदय निर्वृत्त हो जाता है, तो किसके निर्वृत्त होने पर हृदय निर्वृत्त होता है?
क्लेशों से विरक्त होने वाले इनमें (मन में) ऐसा हुआ— रागाग्नि के निवृत्ति होने पर (हृदय)
निर्वृत्त होता है, दोषाग्नि, मोहाग्नि के निर्वृत्त होने पर (हृदय) निर्वृत्त होता है, मानदृष्टि आदि
सम्पूर्ण क्लेशों के निर्वृत्त होने पर हृदयं निर्वृत्त होता है । ऐसा मुझे सुश्रवण सुनायी दिया । अब
मैं निर्वाण की गवेषणा के लिए चलता हूँ । आज ही मुझे घर का निवास छोड़कर (घर से)
निकलकर प्रव्रज्या धारण कर निर्वाण की गवेषणा करनी है । यह इसका आचार्यभाग हो—
ऐसा (विचार कर) सैकड़ों हजार मुद्राओं से खरीदने योग्य बहुमूल्य मुक्ताहार को कृशागौतमी के
पास भेज दिया । मेरे प्रति बद्धचित होकर ही सिद्धार्थकुमार ने इसे भेजा है— यह सोचकर

वह अत्यन्त प्रसन्न हो गयी। बोधिसत्त्व भी महान् श्रीसौभाग्य से सम्पन्न होकर अपने प्रासाद पर चढ़कर श्रीशयन पर लेट गये। तब तक वहाँ सम्पूर्ण अलंकारों से सुशोभित नृत्य-गीत आदि में सुशिक्षित देवकन्याओं की भाँति सौन्दर्यसम्पन्न स्त्रियाँ नाना प्रकार के तूर्यों को लेकर (उन्हें) खोलकर अभिरमण करती हुई नृत्य, गीत और वाद्यों का प्रयोग करने लगीं। बोधिसत्त्व ने क्लेशों से विरक्तचित होने के कारण, नृत्य आदि में अभिरमण न करते हुए क्षणभर में निद्रा प्राप्त कर ली। जिसके लिए हम लोग नृत्य आदि का आयोजन कर रही हैं वही सो गया, (अतः) इस समय क्यों कष्ट सहा जाय'। इस प्रकार वे स्त्रियाँ भी ग्रहण किये गये अपने तूर्य को एक तरफ रखकर सो गयीं। गन्धतैलप्रदीप बुझ गये। जागकर शयनपृष्ठ के, पर्यक पर बैठे हुए बोधिसत्त्व ने देखा (कि) वे स्त्रियाँ तूर्यपात्रों को एक तरफ रखकर सो रही हैं, कुछ पसीने से लथ-पथ होने के कारण क्लिन्न हो गयी हैं, कुछ दाँतों को पीस रही हैं, कुछ बड़बड़ा रही हैं, कुछ विलाप कर रही हैं, कुछ मुँह खोले पड़ी हैं, तथा कुछ के वस्त्र हट जाने के कारण कई अंग स्पष्ट दिखाई पड़ रहे हैं। वे उनकी ऐसी निकृष्ट अवस्था को देखकर पुनः काम से विरक्त हो गये। उन्हें अत्यन्त अलंकृत इन्द्र के भवन के सदृश अपना महल सड़े हुए नाना प्रकार के शवों तथा कच्चे मांस से युक्त श्मशान की भाँति दिखायी पड़ने लगा। उन्हें तीनों लोक जलते हुए घर के समान मालूम होने लगे। उनके मुख से अचानक निकल पड़ा कि

अरे यहाँ से भाग चला जाय, निकल चला जाय।' उनका मन प्रव्रज्या की ओर अत्यधिक अवनमित हो गया। आज ही मुझे महाभिनिष्क्रमण के लिए प्रयास करना चाहिये' (ऐसा) उन्होंने सोचा। ऐसा विचार कर वे पलंग से उठ दरवाजे के पास जाकर बोले— यहाँ कौन है?' देहली पर सिर रखे सोये हुए छन्द ने कहा— मैं हूँ आर्यपुत्र!'। मैं आज महाभिनिष्क्रमण के लिए निष्क्रमण करना चाहता हूँ, मेरे लिए एक अश्व सजाओ।' ठीक है महाराज'— ऐसा कहकर उसने अश्वालंकरण लेकर अश्वागार में जाकर गन्धतैलप्रदीप के जलते रहने पर सुमनपट्ट वितान के नीचे रमणीय भूमिप्रदेश में स्थित अश्वराट् कन्थक को देखकर मुझे आज ही इसे ही सजाना है' (ऐसा सोचकर) कन्थक को सजाया। कन्थक ने सजते हुए ही समझ लिया कि यह सजावट विचित्र है, अत्यन्त गाढ़ है, उद्यानादि क्रीड़ा करने जाने के लिए ऐसी सजावट नहीं होती थी, हमारे आर्यपुत्र आज महाभिनिष्क्रमण के लिए निष्क्रमण करेंगे'। इसलिए प्रसन्न मन होकर उस अश्व ने सजते हुए महा अट्टहास किया। वह शब्द

सम्पूर्ण नगर में फैल न जाय, अतः देवताओं ने उस शब्द को रोककर किसी को सुनने नहीं दिया। बोधिसत्त्व ने भी छन्द को भेजकर ही (भेज दिया) तब तक पुत्र को देख लूँगा (लूँ)– इस प्रकार सोचकर पर्यंक से उठकर राहुल की माता के निवासस्थान पर जाकर अन्तःपुर का द्वार खोल दिया। उस समय अन्दर गन्धतैलप्रदीप बुझ गये थे। राहुल की माता सुमन मल्लिका आदि फूलों को बिस्तर पर फैलाकर पुत्र के मस्तक पर हाथ रखकर सो रही थीं। बोधिसत्त्व ने देहली पर ही पैर रखकर खड़े होकर देखकर (सोचा)– यदि मैं देवी के हाथ को हटाकर अपने पुत्र को ग्रहण करूँगा तो देवी जाग जायेगी। इस प्रकार गमन में बाधा उत्पन्न होगी। अतः बुद्ध होकर ही आकर देखूँगा, (ऐसा निश्चय कर) बोधिसत्त्व प्रासाद से नीचे उतर गये।

महापरिनिब्बानसुत्तं

अथ खो भगवा आयस्मन्तं आनन्दं आमन्तेसि— —सिया खो पनानन्द, तुम्हाकं एवं अस्स— अतीतसत्थुकं पावचनं। नत्थि नो सत्था'ति। न खो पनेतृ, आनन्द, एवं दट्टब्बं। यो वो, आनन्द, मया धम्मो च विनयो च देसितो पंजतो, सो वो ममच्चयेन सत्था। यथा खो पनानन्द, एतरहि भिक्खू अंजमंजं आवुसोवादेन समुदाचरन्ति, न वो ममच्चयेन एवं समुदाचरितब्बं। थेरतरेन, आनन्द, भिक्खुना नवकतरो भिक्खू नामेन वा गोत्तेन वा आवुसोवादेन वा समुदाचरितब्बा। नवकतरेन भिक्खुना थेरतरो भिक्खु भन्ते' ति वा आयस्मा' ति वा समुदाचरितब्बो। आकङ्खमानो, आनन्द, संघो ममच्चयेन खुद्धानुखुद्दकानि सिक्खापदानि समूहन्तु। छन्नस्स, आनन्द, भिक्खुनो ममच्चेन ब्रह्मदण्डो दातब्बो' ति। कतमो पन भन्ते ब्रह्मदण्डो।' ति?

छन्नो, आनन्द, भिक्खु यं इच्छेय्य तं वेदय्य, सो भिक्खूहि नेव वत्तब्बो, न ओवदितब्बो न अनुसासितब्बो' ति। अथ खो भगवा भिक्खू आमन्तेसि— सिया खो पन, भिक्खवे, एकभिक्खुस्सापि कंखा वा विमति वा बुद्धे वा धम्मे वा संघे वा मग्गे वा पटिपदाय वा, पुच्छथ, भिक्खवे, मा पच्छा विप्पटिसारिनो अहुवन्थ— सम्मुखीभूतो नो सत्था अहोसि, न मयं सक्खिम्हा भगवन्त सम्मुखा पटिपुच्छित्तुं' ति। एवं वुत्ते, ते भिक्खू तुण्हीअहेसुं। दुतियम्पि, ततियम्पि खो भगवा भिक्खू आमन्तेसि। ततियम्पि खो ते भिक्खू तुण्हीअहेसुं। अथ खो भगवा भिक्खू आमन्तेसि— सिया खो पन, भिक्खवे, सत्थु गारवेनापि न पुच्छेय्याथ। सहायको पि, भिक्खवे, सहायकस्स आरोचेतू' ति। एवं वृत्ते, ते भिक्खू तुण्ही अहेसुं। अथ खो आयस्मा आनन्दो भगवन्तं एतदवोच— अच्छरियं भन्ते, अब्भुतं भन्ते! एवं प्रसन्न अहं, भन्ते, इमस्मि भिक्खुसंगे

नत्थि एकभिक्षुस्सापि कंखा वा विमति वा बुद्धे वा धम्मे वा संगे वा मग्गे वा पटिपदाय वा' ति ।

पसादा, खो त्वं, आनन्द वदेसि । जाणं एव हेत्थ आनन्द तथागतस्स । नत्थि इमस्मि भिक्षुसंगे एकभिक्षुस्सापि कंखा वा विमति वा बुद्धे वा धम्मे वा संगे वा मग्गे वा पटिपदाय वा । इमेसं हि, आनन्द, पंचन्नं भिक्षुसतानं यो पच्छिमको भिक्षु सो सोतापन्नो अविनिपातधम्मो नियतो सम्बोधिपरायणो' ति । अथ खो भगवा भिक्षू आमन्तेसि— हन्द दानि, भिक्षुवे, आमन्तयामि वो—वयधम्मा संखारा, अप्पमादेन सम्पादथा' ति । अयं तथागतस्स पच्छिमा वाचा ।

अथं खो भगवा पठमज्झानं समापज्जि । पठमज्झाना वुट्ठहित्वा दुतियज्झानं ततियज्झानं समापज्जि । चतुत्थज्झाना वुट्ठहित्वा आकासनंचायतनं समापज्जि । आकासानंचायतनसमापत्तिया वुट्ठहित्वा विंजाणंचायतनं समापज्जि । आकिंचजायतनसमापत्तिवा वुट्ठहित्वा नेवसंजानासंजायतनं समापज्जि । नेवसंजानासंजायतनसमापत्तिया वुट्ठहित्वासंजावेदयितनिरोधं समापज्जि । अथ खो आयस्मा आनन्दो आयस्मन्तं अनुरुद्धं एतदवोच— वरिनिब्बुतो, भन्ते अनुरुद्ध, भगवा' ति । न आवुसो आनन्द, भगवा परिनिब्बुतो, संजावेदयितनिरोधं समापन्नो' ति । अथ खो भगवासंजावेदयितनिरोधसमापत्तियावुट्ठहित्वा नेवसंजानासंजानासंजायतनं आकिंचजायतनं विंजाणंचायतनं आकासनंचायतनं चतुत्थं ज्ञानं ततियंज्ञानं दुतियंज्ञानं पठमंज्ञानं समापज्जि, पठमज्झाना वुट्ठहित्वा दुतियज्झानं ततियज्झानं चतुत्थज्झानं समापज्जि, चतुत्थज्झाना वुट्ठहित्वा समनन्तरा भगवा परिनिब्बायि । परिनिब्बुते भगवति, सह परिनिब्बाना, महाभूमिचालो अहोसि भिसनको लोमहंसो । देवदुन्दुभियो च फलिसु । परिनिब्बुते भगवति, सह परिनिब्बाना, ब्रह्मा सहंपति इमं गाथं अभासि—

सब्बेव निक्खिपिस्सन्ति, भूता लोके समुस्सयं ।

यत्थ एतादिसो सत्था, लोके अप्पटिपुग्गलो ।

तथागतो बलप्पत्तो, सम्बुद्धो परिनिब्बुतो' ति ।।

परिनिब्बुते भगवति, सह परिनिब्बाना, सक्को देवानं इन्दो इमं गाथं अभासि—

अनिच्चा वत संखारा, उप्पादवधम्मिनो ।

उपज्जित्वा निरुज्झन्ति, तेसं वूपसमो सुखो,ति ।।

परिनिब्बुते भगवति, सह परिनिब्बाना, आयस्मा अनुरुद्धो इमा गाथायो अभासि—

नाहु अस्सापस्सासो, ठितचित्तस्य तादिनो ।

अनेजो तन्तिमारब्ध, यं कालं अकरी मुनी ।।

असल्लीनेन चित्तेन, वेदनं अज्झवासयि ।

पज्जोतस्सेव निब्बानं, विमोखो चेतसो अहू'ति ।।

परिनिब्बुत्ते भगवति, सह परिनिब्बाना, आयस्मा आनन्दो इमं गाथं अभासि—

तदासि यं भिंसनकं तदासि लोमहंसनं ।

सब्बाकारवरूपेते, सम्बुद्धे परिनिब्बुत्ते'ति ।।

नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स ।

—सुत्तपिटक, दीघनिकाय, महापरिनिब्बानसुत्त ।

संस्कृत अनुवाद—

अथ खलु भगवान् आयुष्मन्तमानन्दममन्त्रत्— स्यात्खलु पुनः आनन्द! युष्माकमेवं भवेत्—अतीतशास्तृकं प्रावचनम्, नास्ति नः शास्तेति । न खलु पुनरेतदानन्द! एवं द्रष्टव्यम् । यो वः आनन्द! मया धर्मश्च विनयश्च देशितः, प्रज्ञप्तः, स वो ममात्ययेन शास्ता । यथा खलु पुनरातनन्द! एतर्हि भिक्षुमन्योऽन्यमावुसोवादेन समुदाचरन्ति, न खलु ममात्ययेनैवं समुदाचरितव्यम् । स्थविरतरेणानन्द! भिक्षुणा नवकतरो भिक्षुः नाम्ना वा गोत्रेण वायुष्मद्वादेन वा समुदाचरितव्यः । नवकतरेण भिक्षुणा स्थाविरतरो भिक्षुः भदन्त' इति वा आयुष्मन्' इति वा समुदाचरितव्यः । आकांक्षमाणः आनन्द! संघो ममात्ययेन क्षुद्रानुक्षुद्रकाणि शिक्षापदानि समूहन्तु । छन्दस, आनन्द! भिक्षोः ममात्ययेन ब्रह्मदण्डं दातव्यम् ।”

कतमः पुनः भदन्त! ब्रह्मदण्ड इति?”

छन्द, आनन्द! भिक्षुर्यदिच्छेत् तद् वेदत् स भिक्षुभिः नैव वक्तव्यः, नाव वक्तव्यः, नानुशासितव्यः” इति । अथ खलु भगवान् भिक्षूनममन्त्रत्— स्यात्खलु पुनः भिक्षवः! एकस्य भिक्षोः अपि कांक्षा वा विमतिः वा धर्मे वा संघे वा मार्गे वा प्रतिपदि वा, पृच्छथ भिक्षवः! मा पश्चात् विप्रतिसारिणो भवत— सम्मुखीभूतः न शास्ताभूत, न वयं शक्नुमो भगवन्तं सम्मुखं प्रतिप्रष्टुम्” इति ।

एवमुक्ते, ते भिक्षवः तूष्णीमभूवन् । द्वितीयमपि, तृतीयमपि खलु भगवान् भिक्षूनममन्त्रत् तृतीयमपि खलु ते भिक्षवः तूष्णीमभूवन् । अथ खलु भगवान् भिक्षूनममन्त्रत्— स्यात्खलु पुनः

भिक्षवः शास्तुः गौरवेणापि न पृच्छेयुः। सहायकोऽपि भिक्षवः! सहायकमारोचयतु” इति। एवमुक्ते ते भिक्षवः तूष्णीमभूवन्।

अथ खल्वायुष्मन् आनन्दः भगवन्तमेतदवोचत् आश्चर्यं भन्ते! अद्भुतं भन्ते! एवं प्रसन्नोऽहं भन्ते! एतस्मिन् भिक्षुसंघे नास्त्येकस्यापि भिक्षोः कांक्षा वा विमतिः वा बुद्धे वा धर्मे वा संघे वा प्रतिपदि वा’ इति।

प्रसादात्खलु त्वमानन्द! वदसि। ज्ञानमेव हि अत्र आनन्द! तथागतस्य, नास्त्यस्मिन् भिक्षुसंघे एकस्य भिक्षोः अपि कांक्षा वा विमतिः वा बुद्धे वा धर्मे वा संघे वा मार्गे वा प्रतिपदि वा। एषां ह्यानन्द! पंचानां भिक्षुशतानां याः पश्चिमकः भिक्षुः सः स्रोतस्यापन्नोऽविनिपातधर्मो नियतः सम्बोधिपरायण इति।’

अथ खलु भगवान् भिक्षूनममन्त्रत्— हन्त! इदानीं भिक्षवः! आमन्त्रयामि वः, व्ययधर्मः संस्कारा, अप्रमादेन सम्पादयत’ इति।

इयं तथागतस्य पश्चिमा वाग्।

अथ खलु भगवान् प्रथमं ध्यानं समापादि। प्रथमध्यानादुत्थाय द्वितीयध्यानं समापादि। द्वितीयध्यानादुत्थाय तृतीयध्यानं समापादि। तृतीयध्यानादुत्थाय चतुर्थध्यानं समापादि। चतुर्थध्यानादुत्थायाकाशानन्त्यायतनं समापादि। आकाशानन्त्या— यतनसमापत्तेरुत्थाय विज्ञानानन्त्यायतनं समापादि। विज्ञानानन्त्यायतनसमापत्तेरुत्थायाकिंचन्यायतनं समापादि। आकिंचन्यायतनसमापत्तेरुत्थाय नैवसंज्ञानासंज्ञायतनं समापादि। नैवसंज्ञानासंज्ञायतनसमापत्तेरुत्थाय संज्ञावेदयितृनिरोधं समापादि।

अथ खल्वायुष्मानानन्द आयुष्मन्तमनुरुद्धमेतदवोचत्— परिनिर्वृतो, भन्ते! अनुरुद्ध! भगवान्।’ इति।

न आयुष्मन्नानन्द! भगवान् परिनिर्वृतः संज्ञावेदयितृनिरोधं समापन्न इति।

अथ खलु भगवान् संज्ञावेदयितृनिरोधसमापत्तेरुत्थाय नैवसंज्ञानासंज्ञायतनं समापादि। नैवसंज्ञानासंज्ञायतनसमापत्तेरुत्थाय आकिंचन्यायतनं समापादि। आकिंचन्यायतनसमापत्तेरुत्थाय विज्ञानानन्त्यायतनं समापादि। विज्ञानानन्त्यायतनसमापत्ते—रुत्थायाकाशानन्त्यायतनं समापादि। आकाशानन्त्यायतनसमापत्तेरुत्थाय चतुर्थध्यानं समापादि। चतुर्थध्यानादुत्थाय तृतीयध्यानं

समापादि । तृतीयध्यानादुत्थाय द्वितीयं ध्यानं समापादि । द्वितीयध्यानादुत्थाय प्रथमं ध्यानं समापादि ।

प्रथमध्यानादुत्थाय द्वितीयध्यानं समापादि । द्वितीयध्यानादुत्थाय तृतीयध्यानं समापादि । तृतीयध्यानादुत्थाय चतुर्थध्यानं समापादि । चतुर्थध्यानादुत्थाय समानान्तरं भगवान् परिनिरवारीत् । परिनिर्वृते भगवति, सह परिनिर्वाणेन, महाभूमिचालः अभूत् भीषणको लोमहर्षः, देवदुन्दुभ्यश्चाफालिषुः ।

परिनिर्वृते भगवति, सह परिनिर्वाणेन, ब्रह्म सदसस्पतिः इमां गाथायभाषिष्ट—

सर्व एव निक्षेप्स्यन्ति भूताः लोके समुच्छ्रयम् ।

यथैतादृशः शास्ता, लोकेऽप्रतिपुद्गलः ।

तथागतो बलप्राप्तः, सम्बुद्धः परिनिर्वृतः' इति ॥

परिनिर्वृते भगवति, सह परिनिर्वाणेन, शक्रो देवानामिन्द्रः इमां गाथामभाषिष्ट—

अनित्याः वत संस्काराः उत्पादव्ययधर्मिणः ।

उत्पद्य निरुध्यन्ते तेषामुपशमः सुखम्' इति ॥

परिनिर्वृते भगवति, सह परिनिर्वाणेनायुष्मान् अनुरुद्धः इमां गाथामभाषिष्ट—

न खल्वाश्वासप्रश्वासः, स्थितचित्तस्य तापिनः ।

अनेजः शान्तिमारभ्य यं कालमरोत् मुनिः ॥

असल्लीनेन चित्तेन वेदनामध्यवासयत् ।

प्रद्योतस्यैव निर्वाणं विमोक्षः चेतसः अभूत्' इति ॥

परिनिर्वृते भगवति, सह परिनिर्वाणेनायुष्मान् आनन्दः इमां गाथामभाषिष्ट—

तदासीत् यद्भीषणकं तदासीत् लोमहर्षणम् ।

सर्वाकारवरोपे ते सम्बुद्धे परिनिर्वृते' इति ॥

नमस्तस्मै भगवतेऽर्हते सम्यक्सम्बुद्धाय ॥

हिन्दु अनुवाद—

तब भगवान् ने आयुष्मान् आनन्द को आमन्त्रित किया— आनन्द! सम्भव है, तुम लोगों को ऐसा हो कि अतीत शास्ता का यह प्रवचन है, अब हमारा शास्ता नहीं है। आनन्द! इसे ऐसा मत समझना। मैंने जो धर्म और विनय उपदिष्ट किये हैं, प्रज्ञप्त किये हैं, मेरे बाद वे ही

तुम्हारे शास्ता है। आनन्द! जैसे आजकल भिक्षु एक दूसरे को 'आवुस' कहकर पुकारते हैं, मेरे बाद ऐसा कहकर न पुकारें। आनन्द! स्थविर भिक्षु नवीन भिक्षु को नाम से या गोत्र से, या 'आयुष्मान्' कहकर पुकारें। नवीन भिक्षु स्थविरतर को 'भन्ते' या 'आयुष्मन्' कहकर पुकारें। आकांक्षा रखने वाला संघ मेरे बाद क्षुद्र—अनक्षुद्र (छोटे—छोटे) शिक्षापदों को ऊहा करें। आनन्द! मेरे बाद छन्द (स्वच्छन्द) भिक्षु को ब्रह्मदण्ड देना चाहिये।”

भन्ते! यह ब्रह्मदण्ड क्या है?”

आनन्द! छन्द भिक्षु जो चाहे सो कहे, भिक्षुओं को उससे न बोलना चाहिये, न उसे उपदेश या अनुशासन करना चाहिये।”

तब भगवान् ने भिक्षुओं को आमन्त्रित किया— भिक्षुओं! (यदि) बुद्ध, धर्म, संघ, मार्ग या प्रतिपदा में किसी भिक्षु को कुछ शंका या विमति हो, (तो) पूछ ले। भिक्षुओं! अभी पूछ लो, फिर अफसोस न करना कि शास्ता हमारे सम्मुख थे, (किन्तु) हम भगवान् के सामने पूछ न सके। ऐसा कहने पर वे भिक्षु चुप रहे।

दूसरी बार भी भगवान् ने। तीसरी बार भी भगवान् ने भिक्षुओं को आमन्त्रित किया— भिक्षुओ! (यदि) बुद्ध, धर्म, संघ, मार्ग या प्रतिपदा में किसी भी भिक्षु को कुछ शंका या दुविधा हो, तो पूछ लो, भिक्षुओ! बाद में पश्चात्ताप न करना— शास्ता हमारे सम्मुख थे, (किन्तु) हम भगवान् के सम्मुख पूछ नहीं सके। तीसरी बार भी भिक्षु चुप रह गये। तब भगवान् ने भिक्षुओं को आमन्त्रित किया— हो सकता है भिक्षुओ! शास्ता के गौरव से भी (संकोच या भय से) न पूछते हो, तो भिक्षुओ! सहायक ही सहायक से कहे। ऐसा कहने पर भी वे भिक्षु चुप रहे।

तब आयुष्मान् आनन्द ने भगवान् से यह कहा— आश्चर्य है भन्ते! अद्भुत है भन्ते! मैं इस भिक्षुसंघ से ऐसा प्रसन्न हूँ, (कि यहाँ) एक भिक्षु को भी बुद्ध, धर्म, संघ, मार्ग या प्रतिपदा के विषय में सन्देह या विमति नहीं है।

आनन्द! तुम प्रसन्न हूँ कह रहे हो? तथागत का ज्ञान ही यहाँ (कारण) है। इस भिक्षुसंघ में एक भिक्षु को भी बुद्ध, धर्म, संघ, मार्ग या प्रतिपदा के विषय में सन्देह या विमति नहीं है। आनन्द! पाँच सौ भिक्षुओं में जो सबसे छोटा भिक्षु है, वह (भी कम से कम) स्रोतापन्न है, न गिरने वाला है, नियत है, सम्बोधिपरायण है।

तब भगवान् ने भिक्षुओं को आमन्त्रित किया— हे भिक्षुओं! मैं अब तुम्हें (अन्तिम उपदेश देता हूँ— संस्कार व्ययधर्मा है, अप्रमाद के साथ (इनका) संपादन करो।' यह तथागत का अन्तिम वचन है।

तब भगवान् प्रथम ध्यान को प्राप्त हुए। प्रथम ध्यान से उठकर द्वितीय ध्यान को प्राप्त हुए। द्वितीय ध्यान से उठकर तृतीय ध्यान को प्राप्त हुए। तृतीय ध्यान से उठकर चतुर्थ ध्यान को प्राप्त हुए। चतुर्थ ध्यान से उठकर आकाशनन्त्यायतन को प्राप्त हुए। आकाशनन्त्यायतनसमापत्ति से उठकर विज्ञानानन्त्यायतन को प्राप्त हुए। विज्ञानानन्त्यायतनसमापत्ति से उठकर आकिंचन्यायतनसमापत्ति को प्राप्त हुए। आकिंचन्यायतनसमापत्ति से उठकर नैवसंज्ञानासंज्ञायतन को प्राप्त हुए। नैवसंज्ञानासंज्ञायतनसमापत्ति से उठकर संज्ञावेदयित्तिनिरोधसमापत्ति को प्राप्त हुए।

तदनन्तर आयुष्मान् आनन्द ने आयुष्मान् अनुरुद्ध से कहा— भन्ते अनुरुद्ध! क्या भगवान् परिनिर्वृत हो गये?

आयुष्मान् आनन्द! भगवान् परिनिर्वृत नहीं हुए, संज्ञावेदयित्तिनिरोध को प्राप्त हुए हैं।'

तब भगवान् पुनः संज्ञावेदयित्तिनिरोधसमापत्ति से उठकर नैवसंज्ञानासंज्ञायतन को प्राप्त हुए। नैवसंज्ञानसंज्ञायतनसमापत्ति से उठकर आकिंचन्यायतन को प्राप्त हुए। आकिंचन्यायतन समापत्ति से उठकर विज्ञानानन्त्यायतन को प्राप्त हुए। विज्ञानानन्त्यायतनसमापत्ति से उठकर आकाशनन्त्यायतन को प्राप्त हुए। आकाशनन्त्यायतनसमापत्ति से उठकर चतुर्थ ध्यान को प्राप्त हुए। चतुर्थ ध्यान से उठकर तृतीय ध्यान को प्राप्त हुए। द्वितीय ध्यान से उठकर प्रथम ध्यान को प्राप्त हुए।

पुनः प्रथम ध्यान से उठकर द्वितीय ध्यान को प्राप्त हुए। द्वितीय ध्यान से उठकर तृतीय ध्यान को प्राप्त हुए। तृतीय ध्यान से उठकर चतुर्थ ध्यान को प्राप्त हुए। चतुर्थ ध्यान से उठने के अनन्तर भगवान् परिनिर्वाण को प्राप्त हुए।

भगवान् के परिनिर्वृत होने पर निर्वाण के साथ ही भीषण लोमहर्षक महाभूचाल हुआ। देव—दुन्दुभियाँ बज उठीं। भगवान् के परिनिर्वृत होने पर, परिनिर्वाण के साथ सहम्पति ब्रह्मा ने यह गाथा कही—

संसार के सभी प्राणी जीवन से गिरेंगे, जबकि लोक में ऐसे अद्वितीय पुरुष, बल प्राप्त, तथागत, शास्ता बुद्ध भी परिनिर्वाण को प्राप्त हुए।'

भगवान् के परिनिर्वृत होने पर, परिनिर्वाण के साथ देवेन्द्र शक्र ने यह गाथा कही—

संसार उत्पन्न और नष्ट होने वाले हैं (जो) उत्पन्न होकर नष्ट होते हैं, उनका शान्त होना ही सुख है।'

भगवान् के परिनिर्वृत होने पर, परिनिर्वाण के साथ आयुष्मान् अनुरुद्ध ने यह गाथा कही—

स्थिरचित्त तथागत को (अब) आश्वास—प्रश्वास नहीं रहा। शान्ति के लिए निष्काम हो मुनि ने समय बिताया, अलिप्त चित्त से वेदना को छोड़ दिया। प्रकाशमान चित्त का ही निर्वाण विमोक्ष हुआ।

भगवान् के परिनिर्वृत होने पर, परिनिर्वाण के साथ आयुष्मान् आनन्द ने यह गाथा कही—

जब सर्वश्रेष्ठ आकार से युक्त सम्बुद्ध परिनिर्वाण को प्राप्त हुए, उस समय भीषणता हुई, उस समय रोमांच हुआ। उस भगवान् अर्हत् सम्यक्संबुद्ध को (मेरा) प्रणाम है।

घम्मपदसंगहो

न हि वेरेन वेरानि सम्मन्तीध कुदाचनं।

अवेरेन च सम्मन्ति, एस धम्मो सनन्तनो।।5।।

यथा अगारं सुच्छन्नं वुट्ठि न समतिविज्जति।

एवं सुभावितं चित्तं रागो न समतिविज्जति।।14।।

इध नन्दति, पेच्च नन्दति, कतपुंजो उभयत्थ नन्दति।

पुंजं मे कतं' ति नन्दति, भिय्यो नन्दति सुग्गतिं गतो।।18।।

अचिरं वत, यं कायो पठविं अधिसेस्सति।

छुट्ठो अपेतविंजाणो निरत्थं व कलिंगरं।।141।।

यथापि भमरो पुप्फं वण्णगन्धं अहेटयं।

प्लेति रसं आदाय एवं गामे मुनी चरे।।49।।

दीघा जागरतो रत्ती, दीघं सन्तस्स योजनं।

दीघं बालानं संसारो, सद्धम्मं अविजानतं ।।60 ।।
न हि पापं कतं कम्म सज्जु खीरं व मुच्चति ।
डहन्तं वांल अन्वेति भस्माछन्नो व पावको ।।71 ।।
डदकं नयन्ति नेत्तिका, अत्तानं दमयन्ति पण्डिता ।।80 ।।
सेलो यथा एकघनो वातेन स समोरति ।
एवं निन्दापसंसेसु न सम्मिंजन्ति पण्डिता ।।81 ।।
यो सहस्सं सहस्सेन संगमं मानुसे जिने ।
एकंच येय्यमत्तानं स वे संगामजुत्तमो ।।103 ।।
परिजिण्णं इदं रूपं रोगनिड्डं पभंगणं ।
भिज्जति पूतिसन्देहो मरणन्तं हि जीवितं ।।148 ।।
एकं धम्मं उतीतस्स मुसावादिस्स जन्तुनो ।
वितिण्णपरलोकस्य नत्थि पापं अकारियं ।।176 ।।
यो च बुद्धंच धम्मंच संघंच स्मरणं गतो ।
चत्तारि अरियसच्चानि सम्पप्पंजाव पस्सति ।।190 ।।
दुक्खं दुक्खसमुप्पादं दुक्खस्स च अतिककमं ।
अरियंचट्ठगिक मग्गं दुक्खूपसमगामिनं ।।191 ।।
एतं खो सरणं खेमं एतं सरणमुत्तमं ।
एतं सरणमागम्म सब्दुक्खा पमुच्चति ।।192 ।।
मा पियेहि समागच्छिं अप्पियेहि कुदाचनं ।
पियानमदस्सनं दुक्खं अप्पियानंच दस्सनं ।।210 ।।
यो वे उप्पतितं कोधं रथं भन्तं व धारये ।
तमहं सारथि ब्रूमि रस्सिग्गाहो, तरो जनो ।।222 ।।
अयसा व मलं समुट्ठितं, तदुपट्ठाय तमेव खादति ।
एवं अतिधोनचारिनं, सककम्मनि नयति दुग्गतिं ।।240 ।।
सुदस्सं वज्जं अंजेसं अत्तनो पन दुद्दसं ।
परेसं हि सो वज्जानि ओपुनाति यथा भुसं ।

अत्तनो पन छादेति कालिं व कितवा सठो ।।252 ।।
 न तेन भिक्खु भवति यावता भिक्खते परे ।
 विस्सं सम्मं समादाय भिक्खु होति न तावता ।।266 ।।
 योध पुंजंच बाहित्वा ब्रद्धचरियवा ।
 संखाय लोके चरति स वे भिक्खू ति वुच्चति ।।267 ।।
 सब्बे संखारा अनिच्चा' ति यदा पंजाय पस्सति ।
 अथ निब्बिन्दति दुक्खे, एस मग्गो विसुद्धिया ।।278 ।।
 सब्बे धम्मा अनत्ता दुक्खे, एस मग्गो विसुद्धिया ।।279 ।।
 येय्यो अयोगुळो भुत्तो तत्तो अग्गिसिखूपमो ।
 यंचे भुज्जेय्य दुस्सीलो रट्टपिण्डं अंजतो ।।308 ।।
 दिवा तपति आदिच्चो, रत्तिं आभाति चन्दिमा ।
 सन्नद्धो खत्तियो तपति, ज्ञायी तपति ब्राह्मणो ।
 अथ सब्बं अहोरतिं बुद्धो तपति तेजसा ।।387 ।।
 न जटाहि न गोत्तेन न जच्चा होति ब्राह्मणो ।
 यम्हि सच्चं च धम्मो च सो सुची सो च ब्राह्मणो ।।393 ।।
 थ्कं ते जटाहि दुम्मेध, किं ते अजिनसाटिया ।
 अब्भन्तरं ते गहनं, बाहिरं परिमज्जसि ।।394 ।।
 पंसुकूलधरं जन्तुं किसं धमनिसन्थतं ।
 एकं वनस्मिं ज्ञायन्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ।।395 ।।

—खुद्दकनिकाय

संस्कृत अनुवाद—

नहि वैरेण वैराणि शाम्यन्तीह कदाचन ।
 अवैरेण च शाम्यन्त्येष धर्मः सनातनः ।।5 ।।
 यथागारं सुच्छन्नं वृष्टिर्न समतिविध्यति ।
 एवं सुभावितं चित्तं रागो न समतिविध्यति ।।14 ।।
 इह नन्दति प्रेत्य नन्दति कृतपुण्यः उभयत्र नन्दति ।

पुण्यं मे कृतमिति नन्दति भूयो नन्दति सुगतिं गतः ॥18॥

अचिरं बतायं कायः पृथिवीमधिशेष्यते ।

क्षुद्रोऽपेतविज्ञानो निरुर्थमिव कलिंगरम् ॥41॥

यथापि भ्रमरः पुष्पं वर्णगन्धमहेडमानः ।

पलायते रसमादाय एवं ग्रामे मुनिश्चरेत् ॥49॥

दीर्घा जाग्रतो रात्रिः दीर्घं श्रान्तस्य योजनम् ।

दीर्घो बालनां संसारः सद्धर्ममविजानताम् ॥60॥

न हि पापं कृतं कर्म सद्यः क्षीरमिव मुंचति ।

दहन् बालमन्वेति भस्माच्छन्न इव पावकः ॥71॥

उदकं हि नयन्ति नेतृकाः इषुकाराः नमयन्ति तेजनम् ।

दारुं नमयन्ति तक्षका आत्मानं दमयन्ति पण्डिताः ॥8॥

शैलो यथैकघनो वातेन न समीर्यते ।

एवं निन्दाप्रशंसासु न समीर्यन्ते पण्डिताः ॥81॥

यः सहस्रं सहस्रेण संग्रामे मानुषान् जयेत् ।

एकं च जयेदात्मानं स वै संग्रामजिदुत्तमः ॥103॥

परिजीर्णमिदं रूपं रोगनीडं प्रभंगुरम् ।

भिद्यते पूतिःसुदेहो मरणान्तं हि जीवितम् ॥148॥

एकं धर्ममतीतस्य मृषावादिनो जन्तोः ।

वितीर्णपरलोकस्य नास्ति पापमकार्यम् ॥176॥

यश्च बुद्धं च धर्मं च संघं च शरणं गतः ।

चत्वार्यार्यसत्यानि सम्यक् प्रज्ञया पश्यति ॥190॥

दुःखं दुःखसमुत्पादं दुःखस्य चातिक्रमम् ।

आर्याष्टांगिकं मार्गं दुःखोपशमगामिनम् ॥191॥

एतत् खलु शरणं क्षेममेतच्छरणमुत्तमम् ।

एतच्छरणमागत्य सर्वदुःखात् प्रमुच्यते ॥192॥

मा प्रियैः समागच्छाप्रियैः कदाचन ।

प्रियाणामदर्शनं दुःखमप्रियाणांच दर्शनम् ।।210 ।।
यो वै उत्पतितं क्रोधं रथं भ्रान्तमिव धारयेत् ।
तमहं सारथिं ब्रवीमि रश्मिग्राह इतरो जनः ।।222 ।।
अयस इव मलं समुत्थितं तत उत्थाय तदेव खादति ।
एवमतिधावनचारिणं स्वानि कर्माणि नयन्ति दुर्गतिम् ।।240 ।।
सुदर्शमवद्यमन्येषामात्मनः पुनः दुर्दर्शम् ।
परेषां हि सोऽवद्यानवपुनाति यथा बुसम् ।
आत्मनः पुनः छादयति कलिमिव कितवः शठः ।।252 ।।
न तावता भिक्षु भवति यावता भिक्षते परान् ।
वेष्यं धर्मं समादाय भिक्षुर्भवति न तावता ।।266 ।।
य इह पुण्यं च पापं च वाहयित्वा ब्रह्मचर्यवान् ।
संख्याय लोके चरति स वै भिक्षुरित्युच्यते ।।267 ।।
सर्वे संस्काराः अनित्या इति यदा प्रज्ञया पश्यति ।
अथ निर्विन्दति दुःखान्येष मार्गो विशुद्धेः ।।277 ।।
सर्वे संस्काराः दुःखा इति यदा प्रज्ञया पश्यति ।
अथ निर्विन्दति दुःखान्येष मार्गो विशुद्धेः ।।278 ।।
सर्वे संस्काराः अनात्मानः इति यदा प्रज्ञया पश्यति ।
अथ निर्विन्दति दुःखान्येष मार्गो विशुद्धेः ।।279 ।।
श्रेयान् अयोगोलो भुक्तस्तप्तोऽग्निशिखोपमः ।
यश्चेद्भुंजीत दुःशीलः राष्ट्रपिण्डमसंयतः ।।308 ।।
दिवा तपत्यादित्यः रात्रावाभाति चन्द्रमाः ।
सन्नद्धः क्षत्रियस्तपति ध्यायी तपति ब्राह्मणः ।
अथ सर्वहोरात्रं बुद्धस्तपति तेजसा ।।387 ।।
न जटाभिर्न गोत्रेण जात्या भवति ब्राह्मणः ।
यस्मिन् सत्यं च धर्मश्च स शुचिः स च ब्राह्मणः ।।393 ।।
किं ते जटाभिर्दुमेध! किं तेऽजिनशाट्या ।

अभ्यन्तर ते गहनं बाह्यं परिमार्जयसि ॥394 ॥

पांशुकूलधरं जन्तुं कृशं धमनिसंस्तृतम् ।

एकं वने ध्यायन्तं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥395 ॥

हिन्दी अनुवाद—

बैर से बैर कभी शान्त नहीं होता है, (अपितु) अवैर (प्रेम) से ही शान्त होता है, यही सनातन धर्म है ॥5 ॥

जिस प्रकार अच्छी तरह छाये गये (बनाये गये) घर को वृष्टि नहीं बेधती है, उसी प्रकार अच्छी तरह भावित चित्त को राग नहीं बेधता (घेरता है) ॥14 ॥

(कोई व्यक्ति) यहाँ आकर आनन्दित होता है, (और कोई व्यक्ति) इस लोक से जाकर (भी) आनन्दित होता है किन्तु पुण्यवान् व्यक्ति दोनों जगह आनन्दित होता है। मैंने पुण्य किया है, ऐसा सोचकर (व्यक्ति) आनन्दित होता है तथा सुगति (निर्वाण) को प्राप्त कर व्यक्ति पुनः पुनः आनन्दित होता है। 1 ॥8 ॥

यह शरीर शीघ्र ही पृथ्वी पर सो जायेगा। यह विज्ञानरहित क्षुद्र शरीर कलिंगर की तरह निरर्थक है ॥41 ॥

जिस प्रकार भौरा (निर्लिप्त होकर) फूल की गन्ध का अनादर न करता हुआ उसके रस को लेकर भाग (चला) जाता है, उसी प्रकार ग्राम में मुनि (निर्लिप्त भाव से) विचरण करे ॥49 ॥

जागने वाले व्यक्ति के लिए रात्रि बड़ी होती है। थके हुए व्यक्ति के लिए एक योजन बहुत बड़ा होता है। सद्धर्म को न जानने वाले मूर्खों का संसार भी बहुत बड़ा होता है ॥60 ॥

दूध जैसे तुरत नहीं छोड़ता और जैसे राख से ढकी हुई आग बालक को जला देती है, वैसे ही किया गया पापकर्म व्यक्ति को (दूध की तरह) नहीं छोड़ता (और आग की तरह जला देता है) ॥71 ॥

(जिस तरह) जल को नाली ले जाती है, लोहार तेज (लोहे) को झुका देते हैं, बड़ई लकड़ी को झुका देते हैं। (उसी तरह) पण्डित लोग आत्मा का दमन करते हैं ॥80 ॥

जिस प्रकार अत्यन्त मोटा पर्वत वायु द्वारा नहीं हिलाया जाता है, उसी प्रकार निन्दा एवं प्रशंसा से पण्डित लोग विचलित नहीं होते हैं ॥81 ॥

जो संग्राम में हजार (व्यक्तियों) द्वारा हजार (व्यक्तियों) को जीतता है, यदि वह केवल अपने को जीत ले तो वही श्रेष्ठ संग्रामजित् है।।103।।

यह रूप अत्यन्त जीर्ण, रोग का आगार, सर्वथा क्षणभंगुर, फोड़े—फुंसी आदि से सन्दिग्ध होकर भिन्न प्रकार का हो जाता है। यह जीवन भी तो मरण—पर्यन्त ही है।।148।।

धर्म को अतिक्रमण करने वाले, परलोक को चिन्ता से परे रहने वाले मृषावादी प्राणी के लिए पाप अकार्य नहीं है (वह पाप कर सकता है)।।176।।

बुद्ध, धर्म एवं संघ के शरण में गया हुआ जो व्यक्ति चार आर्य सत्यों को भलीभाँति प्रज्ञा से देखता है उस व्यक्ति के लिए दुःख, दुखसमुदय, दुःखनिरोध, दुःखनिरोध—गामिनी प्रतिपदा एवं आर्याष्टांगिक मार्ग ही कल्याणकारी एवं श्रेष्ठ शरण हैं। वह इनकी शरण में आकर सभी दुःखों से मुक्त हो जाता है।।190, 191, 192।।

प्रिय (लोगों) के साथ मत जाओ तथा अप्रियों के साथ कभी भी मत जाओ (क्योंकि) प्रिय (जनों का न देखना एवं अप्रिय (लोगों) को देखना दुःखकर होता है।।210।।

जो उठे (उत्पन्न) हुए क्रोध को भ्रान्त रथ की भाँति धारण कर लेता है, उसी को मैं सारथी मानता हूँ। अन्य लोग तो केवल रस्सी पकड़ने वाले हैं।।222।।

लोहे से उठा हुआ मल (जंग) उसी से उठकर उसी को खा लेता है (नष्ट कर देता है)। इसी प्रकार अत्यन्त धावनचारी (भोजन, वस्त्र आदि की ही चिन्ता में रहने वाले) को अपने कर्म ही दुर्गति को पहुँचा देते हैं।।240।।

(जो) दूसरों का निन्द्यकर्म अच्छी तरह देखता है तथा अपना निन्द्यकर्म कठिनता से देख पाता है, (ऐसा) शठ व्यक्ति कलि की भाँति छल के द्वारा दूसरों के निन्द्यकर्मों को भूसे की तरह फैंला देता है तथा अपना (निन्द्यकर्म) ढँक लेता है।।252।।

दूसरे से भिक्षा माँगने से कोई भिक्षु नहीं होता है, सम्पूर्ण धर्मों को ग्रहण करके भी (कोई) भिक्षु नहीं होता है, (बल्कि) जो इस संसार में पुण्य एवं पाप को छोड़कर ब्रह्मचर्यवान् (होता है) तथा प्रारब्धवश इस संसार में विचरण करता है, वही भिक्षु कहा जाता है।।267।।

सभी संस्कार अनित्य हैं, ऐसा जब बुद्धि से व्यक्त देखता है तब दुःखों पर दुःख प्रकट करता है, यही विशुद्धि का मार्ग है।।277।।

सभी संस्कार दुःखकारी हैं, इस प्रकार जब बुद्धि से व्यक्ति देखता है तब दुःखों पर दुःख प्रकट करता है, यही विशुद्धि का मार्ग है।।278।।

सभी संस्कार अनात्म हैं, इस प्रकार जब बुद्धि से व्यक्ति देखता है तब दुःखों पर दुःख प्रकट करता है, यही विशुद्धि का मार्ग है।।279।।

जो राष्ट्र के असंयत धन को खाता है, उसके लिए अग्नि की शिखा सदृश तप्त लौह—खण्ड को खा लेना श्रेयस्कर है।।308।।

दिन में सूर्य तपता है, रात में चन्द्रमा चमकता है, (युद्ध में) सन्नद्ध क्षत्रिय तपता है और ध्यान में लीन रहने वाला ब्राह्मण तपता है। परन्तु भगवान् बुद्ध अपने तेज से रात—दिन तपते हैं।।387।।

न जटाओं से, न गोत्र से, न जाति से कोई ब्राह्मण होता है (किन्तु) जिसमें सत्य और धर्म रहता है, वही पवित्र है और वहीं ब्राह्मण है।।393।।

हे दुर्मेध! तेरी जटाओं एवं काले मृगचर्म से क्या (लाभ)? तुम्हारा हृदय तो गहन (काला) है और बाहरी रूप का परिमार्जन करते हो।।394।।

धूलि—धूसरित, दुर्बल, धमनीमात्र निश्शेष एवं अकेले वन में ध्यान करने वाले प्राणी को मैं ब्राह्मण कहता हूँ।।395।।

इकाई -2
पइअ-संगहो
साहित्यिक-प्राकृत
(महाराष्ट्री)
गहा-सत्तसई

उअ णिच्चलणिप्पन्दा भिसिणीपत्तम्मि रेतई वलाआ ॥
णिम्मलमरगअभाअणपरिद्धिआ संखसुत्ति व्व ॥1,4 ॥
सहि ईरिसि व्विअ गई मा रुव्वसु तिरिअवलिअमुहअन्दं ।
एआणँ बालबालुंकितन्तुकुडिलाणं पेम्माणं ॥1,10 ॥
पाअवडिअस्स पइणो पुट्ठिं पुत्ते समारुहत्तम्मि ।
दहमण्णुदुण्णिआएँ वि हासो घरिणीएँ णेक्कन्तो ॥1,11 ॥
रंधणकम्मणिउणिए मा जूरसु, रत्तपाडलसुअन्धम् ।
मुहमारुअं पिअन्तो घूमाई सिही ण पज्जलइ ॥1,14 ॥
अमअमअ गणेसेहर रअणीमुहतिलअ चन्द दे छिवसु ।
छित्तो जेहँ पिअअमो ममं पि तेहिं विअ करेहिं ॥1,16 ॥
पिअविरहो अप्पिअदंपणं अ गरुआइँ दो वि दुक्खाइं ।
जीएँ तुमं कारिज्जसि तीएँ णमो आहिजाईएँ ॥1,24 ॥
अज्ज मए तेण विणा अणुहूअसुहाई संभरन्तीए ।
अहिणवमेहाणँ रवो णिसामिओ वज्झपडहो व्व ॥1,29 ॥
आरम्भन्तस्स धुअं लच्छी मरणं वि होइ पुरिसस्स ।
तं मरणं अणारम्भे वि होई लच्छी उण ण होइ ॥1,42 ॥
विरहाणलो सहिज्जइ आसबन्धेण वल्लहजणस्स ।
एकग्गामवासो माए मरणं विसेसेइ ॥1,43 ॥
थोअं पि ण णीसरई मज्झण्णे उह सरीरतललुक्का ।
आअवभएण छाई वि पहिअ ता किं ण वीसमसि ॥1,49 ॥
सुहउच्छअं जणं दुल्लहं पि दूराहि अम्ह आणन्तो ।

उअआरअ जर जोअं पि गेन्त कआवराहोसि ।।1,50 ।।
पेम्मस्स विरोहिअसंधिअस्स पंच्चखदिट्ठिंविजिअस्स ।
उअअस्स व आविअसीअलस्स विरसो रसो होइ ।।1,53 ।।
दिढमण्णुदूणिआएँ वि गहिओ दइअम्मि पेच्छह इमाए ।
ओसरइ बालुआमुट्ठि व्व माणो सुरसुरन्तो ।।1,74 ।।
मुहमारुएण तं कण्ह गोरअं राहिआएँ अवणेन्तो ।
एताणँ बल्लवीणं अण्णणं वि गोरअं हरसि ।।1,89 ।।
दिट्ठा चूआ अग्घाइआ सुरा दक्खिणाणलो सहिओ ।
कंजाइं व्विअ गरुआइँ मामि को वल्लहो कस्स ।।1,97 ।।
कमलाअरा ण मलिआ हंसा उड्ढाविआ ण आ पिउच्छा ।
केणोँवि गामतडाए अब्भं उत्ताणअं व्वूढम् ।।2,10 ।।
कइअवरहिअं पेम्मं णत्थि व्विअ माम माणुसे लोए ।
अह होइ कस्स विरहो विरहे होत्तम्मि को जीअई ।।2,24 ।।
अहअं लज्जालुइणी तस्स अ उग्गच्छराइँ पेम्माइं ।
सहिआअणो वि णिउणो अलाहि किं पापराएण ।।2,27 ।।
रूअं अच्छीसु थिअं फरिसो अंगेसु जम्पिअं कण्णे ।
हिअअं हिअए णिहिअं विओइअं किं त्थ देव्वेण ।।2,32 ।।
दूइ तुमं विअ कुसला कक्खउमउआइं जाणसे बोल्लुं ।
कण्डूइअपण्डुरं जह ण होइ तह तं करेज्जासु ।।2,81 ।।
सरए महद्धदाणं अन्ते सिसिराइँ वाहिरुह्हाइं ।
जाआइं कुविअसज्जणहि असरिच्छाइँ सलिलाइं ।।2,86 ।।
अज्जवेअ पउत्थो अज्ज व्विज सुण्णआइँ जाआइँ ।
रत्थामुहदेउलचत्तराइँ अम्हं च हिअआइं ।।2,90 ।।
फुट्टन्तेण व्वि हिअएण मामि कह णिव्ववरिज्जए तम्मि ।
टादंसे पडिबिम्बं व्विअ जम्मि दुःखं ण संकमइ ।।3,4 ।।
पसासंकी काओ केच्छति दिण्णं पि पहिअघरणीए ।

ओअन्तकरअलो गलिअवलअमज्झट्टिअं पिण्डं ।।3,5 ।।
 ओहिदि अहागमासंकिरीहि सहिआहिं कुड्डलिहिंआओ ।
 दोतिण्णि तहि विअ चोरिआएँ रेहा पुसिज्जन्ति ।।3,6 ।।
 अज्जं गओत्ति अज्जं गओत्ति अज्जं गओत्ति गणरीए ।
 पढम व्विअ दिअहद्धे कुड्डो रेहाहिं चित्तलिओ ।।3,8 ।।
 पुट्ठिं पुससु किप्पोअरि पडोहरंकोल्लपत्तचित्तसलिअं ।
 छेआहिं दिअरजाआहिं उज्जुए मा कलिज्जिहसि ।।4,13 ।।
 दढरोसकलुसिअस्स वि सुअणस्स मुहाहिं विप्पिअं कुतो ।
 राहुमुहम्मि वि ससिणो किरणा अमअं विअ मुअन्ति ।।4,19 ।।
 सूइज्जइ हेमन्तम्मि दुग्गओ पुप्फुआसुअन्धेण ।
 धूमकविलेण परिविरलतन्तुना जुण्णवडएण ।।4,29 ।।
 वसणम्मि अणुव्विग्गा विहवम्मि अगव्विआ भए धीरा ।
 होन्ति अहिण्णसहावा समेसु विसमेसु सप्पुरिसा ।।4,80 ।।
 मरगअसूईविद्धं व मोत्तिअं पिअइ आअअग्गीओ ।
 मोरो पाउसआले तणग्गलग्गं उअअबिंदुं ।।4,94 ।।
 सुप्पउ तइओ विगओ जामोत्ति सहिओ कीस मं भणह ।
 सेहालिआणं गन्धो ण देइ सोत्तुं सुअह तुम्हे ।।5,12 ।।
 चावो सहासरलं सिच्छिवइ सरं गुणम्मि वि पडन्तं ।
 वंकस्स उज्जुअस्स अ संबंधो किं चिरं होइ ।।5,24 ।।
 कत्थ गअं रइबिंबं कत्थ पणट्ठाओ चन्दताराओ ।
 गअणे वलाअपन्तिं कालो होरं व कट्ठेइ ।।5,35 ।।
 जइ भमसि भमसु एमेअ कण्ह सोहग्गव्वरो गोट्ठे ।
 महिलाणं दोसगुणे वि आरक्खमो अज्ज वि ण होसि ।।5,47 ।।
 तुह दंसणे सअण्हा सट्ठं सोरुण णिग्गदा जाइं ।
 तइ वोलीणे ताइं पआइँ बोढव्विआ जाआ ।।6,5 ।।
 जंजं पलएमि दिसं परओ लिहिअ व्व दीससे तत्तो ।

तुह पडिमापडिवाडिं वहइ व्व सअलं दिसाअक्कं ।।6,30 ।।
 पंकमइलेण छीरेक्कपाइणा दिण्ण जाणुवडणेण ।
 आणन्दिज्जइ हलिओ पुत्तेण व्व सालिछेत्तेणा ।।6, 67 ।।
 वाआइ किं भणिज्जउ केत्तिअमेत्तं व लिक्खिए लेहे ।
 तुम विरहे जं दुक्खं तस्स तुमं चेअ गहिअत्थो ।।6,71 ।।
 दुस्सिक्खअरअणपरिक्खएहिं घिट्ठोसि पत्थरे तावा ।
 जा तिलमेत्तं वट्टसि मरगअ का तुज्झ मुल्लकहा ।।7,27 ।।
 कमलं मुअन्त महुअर पिक्ककइत्थाणं गन्धलोहेण ।
 आलेक्खड्डुअं पामरो व्व छिविऊण जाणिहिसि ।।7,41 ।।
 गिंज्जन्ते मंगलगाइआहि घरगोत्तदिण्णकण्णाए ।
 सोउं व णिग्गओ उअह होन्तवहुआइ रोमंचो ।।7,42 ।।
 जंजं आलिहइ मणो आसावट्ठीहिं हिअअफलअम्मि ।
 तं तं बालो व्व विही णिहुअं हसिऊण पम्हुसइ ।।7,56 ।।
 उअ सिन्धवपव्वअसच्छहाइँ धुअतूलपुंजसरिसाइं ।
 सोहन्ति सुअणु मुक्कोअआइं सरए सिअब्भाइं ।।7,79 ।।
 मज्झे पअणुअपंकं अवहोवासेसु साणचिक्खल्लं ।
 गामस्स सीससीमन्तअं व रच्छामुहं जाअं ।।7,82 ।।

संस्कृत अनुवाद

पश्य, निश्चलनिःस्पन्दा बिसिनीपत्रे राजते बलाका ।
 निर्मलमरकतभाजधपरिस्थिता शंखशुक्तिरिव ।।1,4 ।।
 सखि ईदृश्येव गतिमारोदीस्तिर्यग्वलितमुखचन्द्रम् ।
 एतेषां बालकर्कटीतन्तुकुटिलानां प्रेम्णाम् ।।1,10 ।।
 पादपतितस्य पत्युः पृष्ठं पुत्रे समारुहति ।
 दृढमन्युदूनाया अपि हासो गृहिण्या निष्क्रान्तः ।।1,11 ।।
 रन्धनकर्मनिपुणिके मा क्रुध्यस्व रक्तपाटलसुगन्धम् ।
 मुखमारुतं पिबन् धूमायते शिखी न प्रज्वलति ।।1,4 ।।

अमृतमय गगनशेखर रजनीमुखतिलक चन्द्र हे स्पृश ।
 स्पृष्टो यैः प्रियतमो मामपि तैरेव करैः ॥1,16 ॥
 प्रियविरहोऽप्रियदर्शनंच गुरुके द्वेऽपि दुःखे ।
 यया त्वं कार्यसे तस्यै नम आभिजात्यै ॥1,24 ॥
 अद्य मया तेन वितानुभूतसुखानि संस्मरन्त्या ।
 अभिनवमेघानां रवो निशामितो बध्यपटह इव ॥1,29 ॥
 आरभमाणस्य ध्रुवं लक्ष्मीर्मरणमपि भवति पुरुषस्य ।
 तन्मरणमनारम्भेऽपि भवति लक्ष्मीः पुनर्न भवति ॥1,42 ॥
 विरहानलः सह्यत आशाबन्धेन वल्लभजनस्य ।
 एकग्रामप्रवासो मातर्मरणं विशेषयति ॥1,43 ॥
 स्तोकमपि न निमःसरित मध्याह्ने पश्य शरीरतललीना ।
 आतपभे येन च्छायापि पथिक तत्किं न विश्राम्यसि ॥1,49 ॥
 सुखपृच्छकं जनं दुर्लभमपि दूरादस्माकमानयन् ।
 उपकारक ज्वर जीवमपि नयन्न कृतापराधोऽसि ॥1,50 ॥
 प्रेम्णो विरोधितसन्धितस्य प्रत्यक्षदृष्टव्यलीकस्य ।
 उदकस्येव तापितशीतलस्य विरसो रसो भवति ॥1,53 ॥
 दृढमन्युदूनयापि गृहीते दयिते पश्चतानया ।
 अपसरति बालुकामुष्टिरिव मानः सुरसुरायमाणः ॥1,74 ॥
 मुखमारुतेन त्वं कृष्ण गोरजो राधिकाया अपनयन् ।
 एतासां बल्लवीनामन्यासामपि गौरवं हरसि ॥1,89 ॥
 दृष्टाश्चूता आघ्राता सुरा दक्षिणानिलः सोढः ।
 कार्याण्येव गुरुकाणि मातुलानि को वल्लभः कस्य ॥1,97 ॥
 कमलाकरा न मृदिता हंसा उड्डायिता न च पितृष्वसः ।
 केनापि ग्रामतडागे अभ्रमुत्तानितं क्षिप्तम् ॥2,10 ॥
 कैतवरहितं प्रेम नास्तीव मातुलानि मानुषे लोके ।
 अथ भवति कस्य विरहो विरहे भवति को जीवति ॥2,24 ॥

अहं लज्जालुस्तस्य चोन्मत्सराणि प्रेमाणि ।
 सखीजनोऽपि निपुणोऽपेहि किं पादरागेण ॥2,27 ॥
 रूपमक्षणोः स्थितं स्पर्शोऽगेषु जल्पितं कर्णं ।
 हृदयं हृदये निहितं वियोजितं किमत्र दैवेन ॥2,32 ॥
 दूति त्वमेव कुशला कर्मशमृदुकानि जानासि वक्तुम् ।
 कण्डूयितपाण्डुरं यथा न भवति तथा तं करिष्यसि ॥2,81 ॥
 शरदि महाहृदानामन्तःशिशिराणि बहिरुष्णानि ।
 जातानि कुपितसज्जनहृदयसदृक्षाणि सलिलानि ॥2,86 ॥
 अद्यैव प्रोषितोऽद्यैव शून्यकानि जातानि ।
 रथ्यामुखदेवकुलचत्वरान्यस्माकंच हृदयानि ॥2,90 ॥
 स्फुटतापि हृदयेन मातुलानि कथं निवेद्यते तस्मिन् ।
 आदर्शं प्रतिबिम्बमिव यस्मिन्दुखं न संक्रामति ॥3,4 ॥
 पाशाशंकी काको नेच्छति दत्तमपि पथिकगृहिण्या ।
 उपान्तकरतलावगलितवलयमध्यस्थितं पिण्डम् ॥3,5 ॥
 अवधिदिवसागमाशंकिनीभिः सखीभिः कुड्यलिखिताः ।
 द्वित्रास्तत्रैव चोरिकया रेखाः प्रोच्छ्यन्ते ॥3,6 ॥
 अद्य गत इत्यद्य गत इत्यद्य गत इति गणनशीलया ।
 प्रथम एव दिवसार्धे कुड्य रेखाभिश्चित्रितम् ॥3,8 ॥
 पृष्ठं प्रोच्छ कृशोदरि पश्चाद्गृहांकोटपत्रचित्रितम् ।
 विदग्धाभिर्देवरजायाभि ऋजुके मा कलयिष्यसे ॥4,13 ॥
 दृढरोषकलुषितस्यापि सुजनस्य मुखाद् विप्रियं कुतः ।
 राहुमुखेऽपि शशिनः किरणा अमृतमेव मुञ्चन्ति ॥4,19 ॥
 सूच्यते हेमन्ते दुर्गतः करीषाग्नि (सु) गन्धेन ।
 धूमकपिलेन परिविरलतन्तुना जीर्णपटकेन ॥4,29 ॥
 व्यसनेऽदुद्विग्ना, विभवेऽगर्विता, भयेधीराः ।
 भवन्त्यभिन्नस्वभावाः समेषु विषमुषु सत्पुरुषाः ॥4,80 ॥

मरकतसूचीविद्धमिव मौक्तिकं पिबत्यायग्रीवः ।
मयूरः प्रावृट्काले तृणाग्रलग्नमुदकबिन्दुम् ॥4,94 ॥
सुप्यतां तृतीयोऽपि गतो याम इति सख्यः कस्मान्मां भण्थ ।
शेफालिकानां गन्धो न ददाति स्वप्तुं स्वपित यूयम् ॥5,12 ॥
चापः स्वभावसरलं विक्षिपति शरं गुणेऽपि पतन्तम् ।
वक्रस्य ऋतुकस्य च सम्बन्धः किं चिरं भवति ॥5,24 ॥
कुत्र गतं रविबिम्बं कुत्र प्रणष्टाश्चन्द्रताराः ।
गगने बलाकापङ्क्तिं कालो होरामिवाकर्षति ॥5,35 ॥
यदि भ्रमसि भ्रमैवमेव कृष्ण सौभाग्यगर्वितो गोष्ठे ।
महिलानां दोषगुणयोर्विचारक्षमोऽद्यापि न भवसि ॥5,47 ॥
तव दर्शने सतृष्णा शब्दं श्रुत्वा निर्गता यानि ।
त्वथि ब्यवलीने तानि पदानि वोढव्यानि जातानि ॥6,5 ॥
यां यां प्रलोके दिशं पुरतो लिखित इव दृश्यसे तत्र ।
तव प्रतिमापरिपाटीं वहतीव सकलं दिशाचक्रम् ॥6,30 ॥
पंकमलिनेन क्षीरैकपायिना दत्तजानुपतनेन (दत्तजानुवदनेन) ।
आनन्द्यते हालिकः पुत्रेणेवशालिक्षेत्रेण ॥6,60 ॥
वाचा किं भण्यतां कियन्मात्रं वा लिख्यतां लेखे ।
तव विरहे यद् दुःखं तस्य त्वमेव गृहीतार्थः ॥6,71 ॥
दुःशिक्षितरत्नपरीक्षकैर्घृष्टोऽसि प्रस्तरे तावत् ।
यावत्तिलमात्रं वर्तसे मरकत का तव मूस्यकथा ॥7,27 ॥
कमलं मुंचन्मधुकर पक्वकपित्थानां गन्धलोभेन ।
आलेख्यलङ्ङुक पामर इव स्पृष्ट्वा ज्ञास्यसि ॥7,41 ॥
गीयन्ते मंगलगायिकाभिर्वरगोत्रदत्तकर्णायाः ।
श्रोतुमिव निर्गतः पश्यत भविष्यद्बद्ध्वाः रोमांचः ॥7,42 ॥
यद्यदालिखति मन आशावर्तिकाभिर्हृदयफलके ।
तत्तद्दाल इव विधिर्निभृतं हसित्वा प्रमृशति ॥7,56 ॥

पश्य सैन्यवपर्वतसदृक्षाणि धुततूलपुंजसदृशानि ।
शोभन्ते सुतनु मुक्तोदकानि सरदि सिताभ्राणि ।।6,79 ।।
मध्ये प्रतनुकपंगमुभयोः पार्श्वयोः श्यानकर्दमम् ।
ग्रामस्य शीर्षसीमन्तमिव रथ्यामुखं जातम् ।।7,82 ।।

हिन्दी अनुवाद—

देखो, निश्चल, निस्पन्द बलाका कमलिनी के पत्ते पर शोभा पा रही है, मानो स्वच्छ मरकत मणि के पात्र में रखी शंख-शुक्ति हो ।।1,4 ।।

सखि, इस शिशुकर्कटिकातन्तुसदृश कुटिल प्रेम की ऐसी ही गति है, तू मुखचन्द्र को तिरछा मोड़कर न रो ।।1,10 ।।

पैरों पर गिरे पति की पीठ पर पुत्र के चढ़ जाने पर, क्रोध से अत्यन्त दुःखित गृहिणी की भी हँसी निकल (ही) पड़ी ।।1,11 ।।

हे पाकक्रियाप्रवीणे, क्रुद्ध मत हो, रक्त पाटल-सी सुगन्धवाले (तुम्हारे) मुख-मारुत को पीकर (ही) अग्नि धूमयुक्त हो रहा है, जलता नहीं ।।1,14 ।।

हे अमृतमय, गगनशेखर, रजनी के मुख के तिलक (स्वरूप) चन्द्र! मुझे भी अपनी उन्हीं किरणों से छू, जिनसे (तूने) प्रियतम को छुआ है ।।1,16 ।।

प्रिय-विरह और अप्रियदर्शन-दोनों ही गहरे दुःख हैं। तुम जिसके द्वारा (प्रेरित) किये जाते हो, उस आभिजात्य को नमस्कार है ।।1,24 ।।

(पहले) आज उसके बिना अनुभूत सुखों की (ही) याद करती हुई, मैंने नवीन मेघों की ध्वनि को वध्यपटह की भाँति सुना ।।1,29 ।।

निश्चय ही, आरम्भ करने वाले को (ही) लक्ष्मी मिलती है। (ऐसे) पुरुष की मृत्यु भी होती है। (पर) वह मरण तो (कार्य) आरम्भ न करने पर भी होती है, (हाँ) फिर लक्ष्मी नहीं मिलती ।।1,42 ।।

प्रिय की आशा के सहारे विरहाग्नि सह ली जाती है, (पर) एक ही गाँव का प्रवास, ओ माँ, मृत्यु से भी विशेष (असह्य) हो जाता है ।।1,43 ।।

देखो, पथिक, मध्याह्न में शरीर में छिपी छाया भी आतप के भय से जरा भी नहीं निकलती, तो (तुमहीं) विश्राम क्यों नहीं करते? ।।1,49 ।।

सौख्य के विषय में प्रश्न करने वाले दुर्लभ जन को भी दूर से हमारे पास ले आकर उपकार करने वाले ज्वर! हमारे प्राण ले जाकर भी तुमने कोई अपराध नहीं किया।।1,50।।

टूटकर फिर से जोड़े गये प्रेम का, जिसमें अपराध प्रत्यक्ष दिखायी देता हो, रस, गरम करके फिर ठण्डे किये गये जल (के स्वाद) की भाँति, विरस हो जाता है।।1,53।।

देखिए, अत्यन्त कोपवश दुःखित इस मानिनी द्वारा नायक के पकड़ लिये जाने पर उसके प्रति किया गया मान मुष्टि से बालुका की तरह सुर-सुर निकल जाता है।।1,74।।

हे कृष्ण, मुखमारुत से राधा (की आँख) के गोरज (धूलि या गो धूलि) दूर करते समय इन दूसरी गोपियों के भी गौरव (अथवा उज्ज्वलता) को हर लेते हो। (अर्थात् वे कामना से अधीर या ईर्ष्या से मलिन हो जाती हैं।)।।1,89।।

आमांकुर देखा गया है, सुरा पी ली गयी है और दक्षिण पवन (भी) सहन कर लिया गया है, परन्तु प्रिय अभी प्रवास से नहीं आया, लगता है, मेरी अपेक्षा वहाँ के उसके कार्य गुरुतर हैं, मामी! (मेरे मन में निराशा हो गयी है कि) कौन किसे प्यारा है?।।1,97।।

बुआ, गाँव के तालाब में किसी ने ताना हुआ आकाश गिरा दिया है, (फिर भी) न कमलसमूह मर्दित हुआ है, न हंस ही उड़ाये गये हैं।।2,10।।

छलरहित प्रेम तो मामी! जैसे इस मनुष्यलोक में हैं ही नहीं। अगर होता तो किसे विरह होता, होने पर कौन जीवित रहता?।।2,24।।

मैं लज्जालु हूँ और उसका प्रेम उत्कट है। सखीजन भी चतुर हैं। जाओ, पादराग से क्या होगा?।।2,27।।

(उसका) रूप आँखों में विद्यमान है, स्पर्श अंगों में, बातें कानों में, (उसका) हृदय (मेरे) हृदय में रखा है, फिर दैव ने यहाँ अलग क्या किया है?।।2,32।।

दूती, तुम्हीं कुशल हो, कड़वी-मीठी कहना जानती हो, जिस तरह से वह खुजलाते हुए पीला न पड़ जाय वैसा उसे कहना (अर्थात् उसे बात लगे तो, पर असह्य न हो जाय)।।2,81।।

शरत्काल में बड़े सरोवरों की जलराशि कुपित सज्जनों के हृदय के समान भीतर शीतल किन्तु बाहर ऊष्ण हो जाती है।।2,86।।

आज भी वह प्रवास पर गया और आज ही मार्ग—मुख, देवकुल, चबूतरे और हमारे हृदय सूने हो गये हैं।।2,90।।

विदीर्ण होते हुए हृदय से भी, मामी, उससे कैसे निवेदन यिका जाए जिसमें, दर्पण में प्रतिबिम्ब की भाँति, दुःख व्याप्त ही नहीं होता?।।3,4।।

पथिक गृहिणी द्वारा प्रदान किये जाने पर भी उसके लटकते हाथ से विगलित कंकण के बीच विद्यमान पिण्ड को पाश की आशंका से युक्त काक (ग्रहण करना) नहीं चाहता।।3,5।।

अवधि के दिन आ जाने की आशंका करने वाली सखियाँ (नायिका द्वारा) भित्ति पर अंकित दो—तीन रेखाएँ वहीं चोरी से मिटा देती हैं।।3,6।।

आज गया', आज गया', आज गया', इस प्रकार गणना—रत नायिका ने पहले दिनाद्ध में ही भीत की रेखाओं से भर दिया।।3,8।।

टरी कृशमध्ये, पिछले मकानवाले अंकोट वृक्ष के पत्ते से अंकित अपनी पीठ पोंछ डाल। अरी भोली! तू कहीं चतुर देवरानियों द्वारा पहचानी न जाय।।4,13।।

दृढ़ रोग से आविल होने पर भी सज्जन के मुख से अप्रिय (वचन) कहाँ? राहु के मुख में विद्यमान भी चन्द्रा की किरणें अमृत ही देती हैं।।4,19।।

हेमन्त में निर्धन व्यक्ति अपने गोंडों की गन्धवाले धूँ से कपिल वर्ण के, अत्यन्त विरल सूत्रजालवाले (फटे—पुराने) वस्त्र से ही जान लिया जाता है।।4,29।।

सज्जन, विपत्ति में उद्वेगरहित, सम्पत्ति में गर्वरहित, भय में धैर्ययुक्त तथा ऊँच—नीच में अपरिवर्तित स्वभाववाले होते हैं।।4,80।।

वर्षा में मोर ग्रीवा बढ़ाकर मरकत की सुई से बिंधे मोती के समान दूर्वाग्र पर स्थित जलबिन्दु का पान करता है।।4,94।।

सो जाओ, तीसरा याम भी गया, ऐसा हे सखियो! मुझसे क्यों कहती हो? शेफालिका पुष्पों की गन्ध (मुझे) सोने नहीं देती, तुम सो जाओ।।5,12।।

धनुष, स्वभाव से सरल और गुण ही का आश्रय लेने वाले बाण को भी दूर फेंक देता है। (भला) टेढ़े और सीधे का सम्बन्ध क्या देर तक रहता है?।।5,24।।

कहाँ गया सूर्यमण्डल और कहाँ नष्ट हो गये चाँद—तारे। काल, आकाश में बगुलियों की पाँत की तरह होरा को काढ़ रहा है।।5,35।।

कृष्ण! यदि घूमते हो तो इस गोठ में सौभाग्य से मत्त इसी प्रकार घूमते रहो।
महिलाओं के दोष-गुण विचारने में तुम आज भी समर्थ नहीं हो।।5,47।।

तुम्हारे दर्शन की अभिलाषिणी होकर तुम्हारी कण्ठध्वनि सुनकर वह जितने कदम
निकली थी, तुम्हारे विलीन होने पर उसे उतने ही कदम ढोकर लाना पड़ा।।6,5।।

जिस-जिस दिशा को देखती हूँ, वहीं सामने चित्रित-से दिखायी देते हों। सारा
दिङ्मण्डल ही जैसे तुम्हारी प्रतिमा-परम्परा को धारण किया है।।6,30।।

पंकमलिन, केवल दुग्धपान करने वाले, घुटनों में मुँह छिपा लेने वाले पुत्र की भाँति
पंकमलिन, केवल जलपायी, जानुपर्यन्त अवस्थित शालि (धान्य) के क्षेत्र से कृषक आनन्दित
होता है।।6,67।।

वाणी से क्या कहा जाय? पत्र में भी कितना लिखा जा सकता है? तुम्हारे विरह में
कितना दुःख है, तुम्हीं समझ रह हो।।6,71।।

दुःशिक्षित जौहरियों द्वारा, हे मरकत, तुम तब तक पत्थर पर घिसे गये हो, जब तक
तिल-मात्र ही बचे हो (फिर भी) तुम्हारे मूल्य-निर्धारण) की बात ही क्या?।।7,27।।

पके कैंथ की गन्ध के लोभ में कमल को छोड़ने वाले भ्रमर! इसके स्पर्श द्वारा ही तुम
इसे जान सकोगे, जैसे कोई मूर्ख चित्रित लड्डू को (जान जाता है)।।7,41।।

देखो, मंगल गायिकाओं द्वारा (गीत) गाये जाते हैं। वर के नाम पर कान देने वाली
भावी वधू का रोमांच भी मानो सुनने के लिए निकल पड़ा है।।7,42।।

मन आशा की कूँची से हृदय-पलक पर जो-जो चित्र बनाता है, उन्हें-उन्हें विधाता
बालक की तरह चुपचाप हँसकर मिटा देता है।।7,56।।

देखो सुतनू! जल बरसा चुकने पर शरद् में, लवण के पर्वत जैसे और धुनी हुई रूई के
समूहों जैसे श्वेत मेघ शोभा पा रहे हैं।।7,79।।

बीच में थोड़ी कीचड़वाली और दोनों किनारों पर सूखी कर्दमवाली गाँव की राह उसके
मस्तक की सीमन्त-रेखा-सी हो गयी है।।7,82।।

रावणवहो

(पडम आसासओ)

णमह अवडिढअतुंगं अवसारिअवित्थअं अणोणअगहिरम्।

अप्पलहुअपरिसण्हं अणाअपरमत्थपाअडं महुमहणम् ।।1।।
 दणुएन्दरुहिरलग्गे जस्स फुरन्ते णहप्पहाविच्छड्डे ।
 गुप्पन्ती विवलाआ गलिअ व्व थणंसुए महासुरलच्छी ।।2।।
 पीणत्तणदुग्गेज्झं जस्स भुआअन्तणिटदुरपरिग्गहिअस् ।
 रिट्ठस्स विसमवलिअं कण्ठं दुक्खेण जीविअं बोलीणम् ।।3।।
 ओआहिअमहिवेढो जेण परुढगुणमूललद्धत्थामो ।
 उम्मूलन्तेण दुमं पारोहो व्व सुडिओ महेन्दस्स जसो ।।4।।
 णमह अ जस्स फुडरवं कण्ठच्छाआघडन्तणग्गिसिहम् ।
 फुरइ फुरिअट्टहासं उद्धपडितातिमिरं विअ दिसाअक्कम् ।।5।।
 वेवइ जस्स सविडअं वलिडं महइ पुल आइअत्थणअलसम् ।
 पेम्मसहावविमुहिअं वीआवासगमणूसुअं बामद्धम् ।।6।।
 जस्स विलग्गन्ति णहं फुडपडिसद्दा दिसाअलपडिक्खलिआ ।
 जोण्हाकल्लीला विअससिधवलासु रअणीसु हसिअच्छेआ ।।7।।
 णट्टारम्भक्खुहिआ जस्स भउब्बन्तमच्छपहअजलरआ ।
 होन्ति सलिलुद्धुमाइअधूमाअन्तवडवामुहा मअरहरा ।।8।।
 अहिणवराआरद्धा चुक्कक्खलिएसु विहडिअपरिट्ठविआ ।
 मेत्ति व्व पमुहरसिआ णिव्वोढुं होइ दुक्करं कव्वकहा ।।9।।
 परिवड्ढइ विण्णाणं सम्भाविज्जइ जसो विढप्पन्ति गुणा ।
 सुव्वइ सुडरुसचरिअं किं तं जेण ण हरन्ति कव्वालावा ।।10।।
 इच्छाइ व धणरिद्धी जोव्वगलद्धव्व आहिआईअ सिरी ।
 दुक्खं सम्भाविज्जइ बन्धच्छाआइ अहिणवा अत्थगई ।।11।।
 तं तिअसबन्दिमोक्खं समत्थतेल्लोक्कहिअअसल्लुद्धरणं ।
 सुणह अणुराअइण्हं सीआदुक्खक्खअं दहमुहस्स वहम् ।।12।।
 अह पडिवणविरोहे राहववम्महसरेण माणब्भहिए ।
 विद्धाइ वालिहिअए राअसिरीअ अहिसारिए सुग्गीवे ।।13।।
 ववसाअरइपओसो रोसगइन्ददिढसिंखलापडिबन्धो ।

कह कह वि दासरहिणोजअकेसरिपज्जरो गओ घणसमओ ॥14॥
गमिआ कदम्बवाआ दिट्ठं मेहन्थआरिअं गअणअलम् ।
सहिओ गज्जितसद्धो तह विहु से णत्थि जीविए असङ्घो ॥15॥
तो हरिवइजसवन्थो राहवजीअस्स पथमहत्थालम्बो ।
सीआबाहाविहाओ दहमुहववज्झादिअहो उवगओ सरओ ॥16॥
रइअरकेसरणिवहं सोहइ धवलब्भदलसहस्सपरिगअम् ।
महुमहदंसणजोग्गं पिआमहुप्पत्तिपंकअं व णहअलम् ॥17॥
दिणमणिमोहप्फुरिअं गलिअं घणलच्छिरअणरसणादामम् ।
उदुमअणबाणवत्तं णहमन्दारणवकेसरं इन्द्रधणुम् ॥18॥
धुअमेहमहुअराओ घणसमआअट्टिओणअविमुक्काओ ।
णहपाअवसाहाओ णिअअट्ठाणं व पडिगआओ दिसाओ ॥19॥
अहिणवणिद्धालोओ उद्देसासारदीसमाणजललवा ।
णिम्माअमज्जणसुहा दरवसुआअच्छविं वहन्ति व दिअहा ॥20॥
सुहसम्माणिअहिणद्धो विरहालुखिअंसमुद्धदिण्णुक्कण्ठो ।
असुवन्तो वि विबुद्धो पढमविबुद्धसिरिसेविओ मुहमहणो ॥21॥
सोहइ विसुद्ध किरणो गअणसमुद्धम्मि रअणिवेलालगो ।
तारामुत्तावअरो फुडविहडिअमेहसिप्पि संपुडमुक्को ॥22॥
सत्तच्छ आँण गन्धो लग्गइ हिअए खलइ कलम्बामोओ ।
कलहंसाणँ कलरओ ठाइण संठाइ परिणअं सिहिविरुअम् ॥23॥
पीणपओहरलग्गं दिसाणँ पवसन्तजलअसमअविइण्णम् ।
सोहग्गपणम्इण्हं पम्माअइ सरसणहवअं इन्द्रधणुम् ॥24॥
पज्जत्तसलिलधोए दूरालोक्कन्तणिम्मले गअणअले ।
अच्चासण्णं व टिअं विमुक्कपरभाअपाअडं ससिबिम्बम् ॥25॥
चिरआजपडिणिउत्तं दिसासु घोलन्तकुमुअरअवेल्लविअम् ।
भमइ अलद्धासाअं कमलाअरदंसणूसुअं हंसउलम् ॥26॥
चन्दाअवधवलाओ फुरन्तदिअसरअणन्तरिअसोहाओ ।

सोम्मे सरअस्स उरे मुत्तावलिविम्भमं वहन्ति णिसाओ ।।27 ।।
 भमररुअदिण्णसण्णं घण्रोहविमुक्कदिण अरअरालिड्डम् ।
 फरिससुहाअन्तं विअ पडिबुज्झइ जलणिहितणालं णलिणम् ।।28 ।।
 मभ्यहधणुगघोसो कमलवणक्खलिअलच्छिणेडरसद्दो ।
 सुव्वइ कलहंसरओ महुअरिवाहित्तणलिणिपडिसंलाओ ।।29 ।।
 खुडिडप्पइअमुणालं दट्टुण पिअं व सिढिलवलअं णलिणम् ।
 महुअरिमहुरुल्लावं महुमअतम्बं मुहं व घेप्पइ कमलम् ।।30 ।।
 पज्जत्तकमलगन्धो संचरइ सदाणसीअरो वणवाओ ।।31 ।।
 कण्टइअणूमिअंगी थोअत्थोओसरन्तमुद्धसहावा ।
 रइअरचुम्बिज्जन्तं ण णिअत्तेइणलिणी मुहं मिअ कमलम् ।।32 ।।
 परिघोलन्तक्खलिअं सत्तच्छअकुसुमधवलरेणुक्खइअम् ।
 उत्पुसइ दाणवंक मुहुत्तगअकण्ण चामरं भमरउलम् ।।33 ।।

—प्रवरसेन विरचितस्य सेतुबन्धस्य प्रथमाश्वासात्

संस्कृत अनुवाद—

नमतावर्धिततुङ्गमप्रसारितयिस्तृतममवनतगथीरम् ।
 अप्रलघुकपरिश्लक्षणज्ञातपरमार्थप्रकटं मधुमथनम् ।।1 ।।
 दनुजेन्द्ररुधिरलग्ने यस्य स्फुरति नखप्रभावविच्छर्दे ।
 गुप्यन्ती (व्याकुला) विपलायिता गलित इव स्तनांशुके महासुरलक्ष्मीः ।।2 ।।
 पीनत्वदुर्ग्राह्यं यस्य भुजान्तनिष्ठुरपरिगृहीतम् ।
 अरिष्टस्य विषमवलितं कण्ठं दुखेन जीयितं व्यतिक्रान्तम् ।।3 ।।
 अवागहितमहीवेष्टं येन प्ररुढगुणमूललब्धस्थाम् ।
 उन्मूलयता द्रुमं प्ररोह इव खण्डितं महेन्द्रस्य यशः ।।4 ।।
 नमत च यस्य स्फुटरवं कण्ठच्छायाघटमाननयनाग्निशिखम् ।
 स्फुरति स्फुरिताट्टहासमूर्ध्वप्रदीप्ततिमिरमिव दिक्चक्रम् ।।5 ।।
 वेपते यस्य सव्रीडं वलितुं महति पुलकाचितस्तनकलशम् ।
 प्रेमस्वभावविमुषितं द्वितीयावकाशगमनोत्सुकं वामार्धम् ।।6 ।।

यस्य विलगन्ति नभः स्फुटप्रतिशब्दा दिक्तलप्रतिस्खलिताः ।
 ज्योत्स्नाकल्लोला इव शशिधवलासु रजनीसु हसितच्छेदाः ॥7॥
 नृत्यारम्भक्षुभिता यस्य भयोद्भ्रान्तमत्स्यप्रहतजलहयाः ।
 भवन्ति सलिलोद्धमापित धूमायमानवडवामुखा मकरगृहाः ॥8॥
 अभिनवरागा (जा) रक्षा च्युतस्खलितेषु विघटितपरिस्थापित ।
 मैत्रीव प्रमुखरसिका निर्वोढुं भवति दुष्करं काव्यकथा ॥9॥
 परिवर्धते विज्ञानं संभाव्यते यशोऽऽर्ज्यन्ते गुणाः ।
 श्रूयते सुपुरुषचरितं किं तद्येन न हरन्ति काव्यलापाः ॥10॥
 इच्छयेव धनऋद्वियौवनलब्धेवामिजात्या श्रीः ।
 दुःख सम्भाव्यते बन्धच्छाययाभिनवार्थगतिः ॥11॥
 तं त्रिदशबन्दिमोक्षं समस्तत्रैलोक्यहृदयशल्योद्धरणम् ।
 श्रृणुतानुरागचिह्नं सीताबुःखक्षय दशमुखस्य वधम् ॥12॥
 अथ प्रतिपन्नविरोधे राघवमन्मथशरेण मानाभ्याधिके ।
 विद्धवा बालिहृदये राजश्रियाभिसारिते सुग्रीवे ॥13॥
 व्यवसायरविप्रदोषो रोषगजेन्द्रदृढशृंखलाप्रतिबन्धः ।
 कथं कथमपि दाशरथेर्जयकेसरिपंजरो गतो घनसमयः ॥14॥
 गमिताः कदम्बवाता दृष्टं मेघान्धकारितं गगनतलम् ।
 सोढो गर्जितशब्दस्वरतथापि खल्वस्या नास्ति जीवित आसङ्गः ॥15॥
 धतो हरिपतियषः पथो राघवजीवस्य प्रथमहस्तालम्बः ।
 सोताबाष्पविघातः दशमुखवध्यदिवस उपगता शरत् ॥16॥
 रविकरकेसरनिवहं शोभते धवलाभ्रदलसहस्रपरिगतम् ।
 मधुमथनदर्शनयोग्यं पितामहोत्पत्तिपकंजमिव नभस्तलम् ॥17॥
 दिनमणिमयूखस्फुरितं गलितं घनलक्ष्मीरत्नरशनादाम ।
 ऋतुमदनबाणवक्त्रं नभोमन्दारनवकेसरमिन्द्रधनुः ॥18॥
 धुतमेभमधुकरा घनसमयाकृष्टावनतविमुक्ताः ।
 नभः पापशाखा निजकस्थानमिव प्रतिगता दिशः ॥19॥

अभिनवस्निग्धालोका उद्देशासारदृश्यमानजललवाः ।
 निर्मितमज्जनसुखा दरशुष्कच्छविं वहन्तीव दिवसाः ॥20॥
 सुखसम्मानितनिद्रो विरहस्पृष्यसमुद्रदत्तोत्कण्ठः ।
 अस्वपन्नपि विबुद्धः प्रथमविबुद्धश्रीसेवितो मधुमथनः ॥21॥
 शोभते विशुद्धीकिरणो गगनसमुद्रे रजनिवेलालग्नः ।
 तारामुक्ताप्रकरः स्फुटविघटितमेघशुक्तिसंपुटमुक्तः ॥22॥
 सप्तच्छदानां गन्धो लगति हृदये स्खलति कदम्बामोदः ।
 कलहंसानां कलरवस्तिष्ठति न सन्तिष्ठते परिणर्त शिखिविरुतम् ॥23॥
 पीनपयोधरलग्नं दिशां प्रवसज्जलदसमयवितीर्णम् ।
 सौभाग्यप्रथमचिन्हं प्रम्लायति सरसनखपदमिन्द्रधनुः ॥24॥
 पर्याप्तसलिलधौते दूरालोक्यमाननिर्मले गगनतले ।
 अत्यासन्नमिव स्थितं विमुक्तपरभागप्रकटं शशिबिम्बम् ॥25॥
 चिरकालप्रतिनिवृत्तं दिक्षु घूर्णमानकुमुदरजोविलिप्तम् ।
 भ्रमत्यलब्धास्वादं कमलाकरदर्शनोत्सुकं हंसकुलम् ॥26॥
 चन्द्रातपधवलाः स्फुरद्विवसरन्तरितशोभाः ।
 सौम्य शरद उरसि मुक्तावलिविभ्रमं वहन्ति निशाः ॥27॥
 भ्रमररुतदत्तसंज्ञं घनरोधविमुक्तदिनकराश्लिष्टम् ।
 स्पर्शसुखायमानमिव प्रतिबुध्यते जलनिहिअनालं नलिनम् ॥28॥
 मन्मथधनुर्निर्घोषः कमलवनस्खलितलक्ष्मीनूपुरशब्दः ।
 श्रूयते कलहंसरवो मधुकरीव्याहृतनलिनीप्रतिसंलापः ॥29॥
 खण्डितोत्पाटितमृणालां दृष्ट्वा प्रियामिवशिथिलवलययां नलिनीम् ।
 मधुकरीमधुरोल्लापं मधुमयाताम्रं (पक्षे—मधुमदताम्रं) मुखमिव गृह्यते कमलम् ॥30॥
 पर्याप्तकमलगन्धो मध्वार्द्रापसरन्नवकुमुदरजाः ।
 भ्रमद्भ्रमरोपजीव्यः संचरति सदानशीकरो वनवातः ॥31॥
 कण्टकितगोपितांगी स्तोकस्तोकापसरन्मुग्धस्वभावा ।
 रविकरचुम्ब्यमानं न निवर्तयति नलिनी मुखमिव कमलम् ॥32॥

परिपूर्णमानस्खलितं सप्तच्छदकुमुमधवलरेणूत्खचितम् ।
उत्प्रोँछति दानपंकं मुहूर्तगजकर्णचामरं भ्रमरकुलम् ॥33॥

हिन्दी अनुवाद—

बिना बड़े हुए ही ऊँचे, बिना फैले ही सुविस्तृत, बिना झुके (अवनत हुए) गम्भीर, कृश न होते हुए भी कृश, परमार्थ तत्व में अज्ञय होकर भी प्रकट मधुरिपु को प्रणाम करो ॥1॥

असुरराज के रक्त से रंजित जिनके नखों के कान्तिजाल के विकीर्ण होने पर महादनुज की लक्ष्मी स्तनांशुक के गिर जाने पर (लज्जित—सी) छिपती भाग खड़ी हुई ॥2॥

अपनी विशालता के कारण दुर्गाह्य अरिष्ट (नामक असुर) का कण्ठ जिनके भुजान्त द्वारा निष्ठुरता—पूर्वक पकड़े जाने पर बुरी तरह ऐंठा गया और प्राण कष्ट से निकल गया ॥3॥

समस्त पृथ्वीमण्डल का अवगाहन करने वाला अत्यधिक गुणों के कारण स्थिरता को प्राप्त देवेन्द्र का यश जिन्होंने (पारिजात) वृक्ष उखाड़ते समय अंकुर के समान नष्ट कर दिया ॥4॥

जिन (शंकर भगवान्) के कण्ठ की छाया से सम्बद्ध शिखावाला स्फुरित अट्टहासवाला, ऊपर के भाग में जलते हुए अन्धकारवाला, स्पष्ट शब्दवाला दिक्चक्र विकनिम होता है, उस शंकर भगवान् को नमस्कार करें ॥5॥

पुलकावली संकुल स्तनमंडलयुक्त, प्रेम स्वभाववश विमूढ एवं अपर (दक्षिण) भाग की ओर जाने के लिए उत्सुक जिन (अर्धनारीश्वर) का वामार्श, जिनके झुकने की कामना करने पर, लज्जायुक्त हो काँपता है ॥6॥

जिनकी स्फुट प्रतिध्वनिवाली, दिवोणों से परावर्तित हँसी, चन्द्रिका की लहरों की भाँति चन्द्रधवल रात्रियों में आकाश का स्पर्श करती है ॥7॥

जिनके नृत्यारम्भ से विक्षुब्ध समुद्रों के जल का प्रवाह भयभ्रमित मत्स्यों से रुद्ध हो जाता है और जल से बुझता हुआ बड़वानल धुमयुक्त हो जाता है ॥8॥

रसिक ही जिसमें सर्वोपरि हैं, जो नवीन रागवश प्रारम्भ होती है, चूक जाने वाले व्यक्ति के अपराध से खण्डित होने पर जिसे फिर से स्थापित करना पड़ता है, ऐसी मैत्री के समान नवीन राजा (प्रवरसेन) द्वारा प्ररब्ध चूक जाने पर दोषों के कारण नष्टप्राय होने पर परिष्कृत प्रमुखतया रसिकों के लिए प्रयोज्य काव्य—कथा का निर्वाह करना कठिन होता है ॥9॥

विशिष्ट ज्ञान बढ़ता है। यश की सम्भावना होती है। गुण अर्जित किये जाते हैं। सज्जनों का चरित सुनने को मिलता है। वह कौन-सी वस्तु है जिससे काव्य-प्रयोग मनोहारी नहीं होते (अर्थात् सभी वस्तुओं से मनोहारी होते हैं)।।10।।

कामना के साथ धन-सम्पत्ति, आभिजात्य के साथ यौवनप्राप्तशोभा तथा काव्य-बन्ध (छन्द) रमणीयता के साथ नवीनार्थ की योजना दुःखपूर्वक (कठिनता से) ही संभव है।।11।।

बन्दी देवताओं के मुक्तिस्वरूप, निखिल त्रिलोकी के हृदय-शूल को निकालने वाले अनुराग के प्रतीक, सीता के दुःख को दूर करने वाले उस दशमुख के वध को सुनें।।12।।

रामरूप कामदेव के बाण द्वारा विरोधयुक्त पर्याप्त अभिमानवाले बालि के हृदय में प्रहृत (बालि) की राज्य-लक्ष्मी के सुग्रीव से अभिसार करने पर,

राम के प्रयत्नरूप सूर्य का प्रदोष-काल, उनके कोप रूपी गजराज का श्रृंखालारूप दृढ़-बन्धन एवं राम की विजयरूपी सिंह का पिंजड़ारूपी वर्षाकाल किसी न किसी तरह बीत गया।।13,14।।

कदम्ब की वायु भी विता ली गयी, मेघों से अन्धकारवृत आकाश भी देख लिया गया, गर्जन का शब्द भी सहन कर लिया गया, फिर भी जीवन से उसकी आसक्ति नहीं हुई।।15।।

फिर वानरराज के यश का मार्ग, राम के प्राणों का पहला हस्तावलम्ब, सीता के अश्रुओं का नाशक, रावण-वध के योग्य दिवसरूप शरत्समय उपस्थित हुआ।।16।।

सूर्यकिरणरूप केसर राशिवाला, हजारों शुभ्र मेघ-खण्ड-रूपी पँखुड़ियों से व्याप्त, नारायण के दर्शन योग्य आकाश-प्रदेश, ब्रह्मा के उत्पत्तिकमल-सा शोभित हुआ।।17।।

सूर्य की किरणों से प्रकाशित, वर्षाऋतुरूप कामदेव का बाणाग्र, आकाश रूपी मन्दार पुष्प का केसर एवं मेघ-लक्ष्मी का मेखलाबन्ध इन्द्रधनुष विगलित हो गया।।18।।

जिनसे मेघरूपी भ्रमर विलीन हो गये हैं, वे वर्षाऋतु द्वारा खींचकर झुकायी जाने के बाद छोड़ दी गयी आकाशरूपी वृक्ष की दिशारूपी शाखाएँ मानो अपनी जगह लौट गयीं।।19।।

नवीन स्निग्ध प्रकाशयुक्त दिवस, एक भूभाग में वेगपूर्ण वर्षा के कारण दिखायी देने वाले जलखण्डों के कारण स्नान-सुख प्राप्त किये हुए लोगों की भाँति आधे सूखे दिखायी देते हैं।।20।।

विरहाकुल समुद्र के प्रति उत्कण्ठा-युक्त, सुखपूर्वक निद्रा का सम्मान करने वाले पहले से जागी हुई लक्ष्मी द्वारा सेवित मधुरिपु (वस्तुतः) न सोने पर भी (सोकर) जागे (अर्थात् देवोत्थानी एकादशी हुई)।।21।।

आकाशरूपी समुद्र में रात्रिरूपी किनारे से लगी स्पष्टः विदीर्ण होते हुए, मेघों के रूप-सी सीपी के सम्पुट से निकलती विशुद्ध किरणों वाली तारारूप मुक्ताओं की राशि शोभित हो रही है।।22।।

सप्तछदों की गन्ध हृदय में लगती है। कदम्ब की गन्ध व्याप्त होती है। राजहंसों का कलरव (हृदय में) रह जाता है। मयूरों की (असमय के कारण) विरस केका नहीं रहती।।23।।

जाते हुए वर्षाकाल द्वारा प्रदत्त दिशाओं के सुविशाल पयोधरों पर लगा सौभाग्य का प्रथम चिह्न सरस नखांगरूप इन्द्रधनुष मलिन हो रहा है।।24।।

प्रचुर जलराशि से धुले, दूर से ही देखने में स्वच्छ आकाश में मेघादिमुक्त चन्द्रमण्डल, लगता है, बहुत ही पास विद्यमान है।।25।।

बहुत समय बाद लौटा हुआ दिशाओं में व्याप्त कुमुद्रों के पराग से लिप्त, पद्यसर को देखने के लिए उत्सुक हंस-समूह स्वाद प्राप्त किये बिना ही घूम रहा है।।26।।

प्रदीप्त दिनमणि से जिनकी शोभा समाप्त हो जाती है, वे चन्द्रिकोज्ज्वल रात्रियाँ शरत्काल के कान्तिमान् वक्ष पर विद्यमान मुक्तामालाओं की शोभा धारण करती हैं।।27।।

जल में व्याप्त नालयुक्त, मधुकर रव से संकेत प्राप्त कर, मेघमुख सूर्य की किरणों से आलिंगित कमल, स्पर्श-सुख का अनुभव करता हुआ-सा जागता (खिलता) है।।28।।

राजहंसों का शब्द, कामदेव के धनुष की टंकार, कमल-वनों में स्खलित लक्ष्मी के नूपुरों की ध्वनि तथा मधुकरी द्वारा कही गयी बात के कमलिनी द्वारा दिये गये प्रत्युत्तर के रूप में सुना जाता है।।29।।

तोड़कर निकाले गये मृणालों वाली कमलिनी को शिथिल-वलया प्रिया के समान देखकर (सहृदयों द्वारा) भ्रमरी के मधुर रव से युक्त मधुमय रक्तमुख के समान कमल ग्रहण किया जाता है।।30।।

कमल की गन्ध से परिपूर्ण, (कमल, कुमुद और मदगच की जिज्ञासा से) घूमते हुए भ्रमरों का उपजीव्य (द्वारा सेवनीय) गजमदबिन्दुयुक्त वन्य पवन, नये कुमुदों के मधु से गीले पराग को गिराता (बिखेरता) हुआ बह रहा है।।31।।

पुलकित (नालरूप) अंग को (जल में) छिपाये, कलिका-भाव का धीरे-धीरे त्याग करने वाली कमलिनी सूर्यकरों द्वारा स्पृश्यमान कमल को नहीं हटाती। जैसे पुलकित अंगों को छिपाने वाली, मुग्धात्व का धीरे-धीरे त्याग करने वाली, प्रेमी के द्वारा चुम्ब्यमान मुख को नायिका नहीं हटाती।।32।।

घूमते हुए स्वलित होने वाला सप्तच्छद-पुष्पों के उज्ज्वल पराग से लिप्त, क्षणभर के लिए गज का कर्ण चामर बनने वाला, भ्रमर-समूह (उसके) दानवारि के पंक को पोंछ देता है।।33।।

णाणपंचमी कहाओ

वीर हलिओ विहु भक्ता अनन्नभज्जो गुणेहिं रहिओ वि।

मा सगुणो बहुभज्जो जइ राया चक्कवट्टी वि।।1।।

संकरहरिबंभाणं गउरी लच्छी अहेव बंभाणी।

तइ जइ पइणो इट्टा तो महिला इयरहा छेली।।2।।

विभवेण जो न भुल्लइ जो न वियारं करेइ तारुन्ने।

सो देवाणं वि पुज्जो किमंग पुण यलोयस्स।।3।।

दुकलत्तं दालिछं वाही तह कन्नणं बाहुल्लं।

पच्चक्खं नरयमिणं मत्थुवइट्टं च वि परोक्खं।।4।।

कण्णाद्धारविहीणं बोहित्थं जह जलम्मि डोल्लेइ।

सिद्ध महंतयरहियं रज्जं पि हु तारिसं होइ।।5।।

वरजुबइ विलसिणं गन्धव्वेण च एत्थ लोयम्मि।

जस्स न हीरइ हिययं सो पसुओ पुण देवा।।6।।

संस्कृत अनुवाद—

भ्रातर्हालिकोऽपि खलु भर्तानभ्यभार्यो गुणैरहितोऽपि।

मा सगुणो बहुभार्यो यदि राजा चक्रवर्त्यपि।।1।।

शंकराहरिब्रह्मणां गोरी लक्ष्मीर्यथैद ब्रह्माणी ।।
तथा यदि पत्युरिष्टा ततो महिलेतरथाजा ।।2 ।।
विभवेन यो न विस्मरति यो न विकारं करोति तारुण्ये ।
सो देवानामपि पूज्यः किमंग पुनर्मनुजलोकस्य ।।3 ।।
दुष्कलत्रं दारिद्र्यं व्याधिस्तथा कन्याकानां बाहुल्यम् ।
प्रत्यक्षं नकरमिदं शास्त्रोपदिष्टं चापि परोक्षम् ।।4 ।।
कर्णधारविहीनं वहित्रं यथा जले ट्वलति ।।
शिष्टमहत्करहितं राज्यमपि खलु तादृशं भवति ।।5 ।।
वरयुवतिविलसितेन गान्धर्वेण चात्र लोके ।
यस्य न द्वियते हृदयं सः पशुरथवा पुनर्देवः ।।6 ।।

हिन्दी अनुवाद—

भैया! हलवाह ही हो और गुणों से रहित ही हो, पर भर्ता वह है जो एकपत्नी हो, अगर बहुपत्नी, गुणी और चक्रवर्ती राजा भी हो तो न हो ।।1 ।।

शंकर, विष्णु तथा ब्रह्मा को जैसे गौरी, लक्ष्मी और ब्रह्माणी हैं, ऐसे ही यदि पति को प्रिय है तो वह स्त्री है, नहीं तो बकरी है ।।2 ।।

सम्पत्ति में जो भूल नहीं जाता और तरुणाभाई में जिसे विकार नहीं होता, वह देवताओं का भी पूज्य है फिर मनुष्यलोक को तो बात ही क्या! ।।3 ।।

बुरी स्त्री, गरीबी, रोग और कन्याओं का आधिक्य— यह प्रत्यक्ष नरक है, शास्त्र द्वारा बताया गया तो फिर भी परोक्ष है ।।4 ।।

कर्णधाररहित जहाज जैसे पानी में डोलता है, शिष्टों एवं महापुरुषों से रहित राज्य भी वैसा ही होता है ।।5 ।।

श्रेष्ठ युवतियों के विलास से और संगीत से इस लोक में जिसका हृदय आकृष्ट नहीं होता, वह पशु है अथवा देवता ।।6 ।।

पङ्क्ति—संगहो

शौरसेनी

स्वप्नवासवदत्तम् (चतुर्थोऽङ्कः)

(ततः प्रविशति विदूषकः)

विदूषक—(सहर्षम्) भो! दिद्विआ तत्तहोदो वच्छराअस्स अभिप्पेद—विवाहमंगलरमणिज्जो कालो दिद्वो। भो! को णाम एदं जाणादि—तादिसे वयं अणत्थसलिलावत्ते पक्खित्ता उण उम्मज्जिस्सामो' त्ति। इदाणिं पासादेसु असीअदि, अन्देउरदिग्घिआसु ण्हाईअदि, पकिदिमउरसुउमाराणि मोदअखज्जी—आणि खज्जीअन्ति त्ति अणच्छरसंवासो उत्तरकुरुवासो मए अणुभवीअदि। एक्को खु महन्तो दोसो, मम आहारो सुटुग परिणमदि, सुप्पच्छदणाए सय्याए णिदं ण लभामि, जह वादसोणिदं अभिदो विअ वत्तदि त्ति पेक्खामि। भो! सुहं णाम अपरिभूदं अकल्लवत्तं च।

(ततः प्रविशति चेटी)

चेटी—कहिं णु खु गदो अय्यवसन्तओ? (परिक्रम्यावलोक्य) अम्हो! एसो अय्यवसन्तओ। (उपगम्य) अय्य! वसन्तअ! को कालो तुमं अण्णेसामि।

विदूषकः— (दृष्ट्वा) किंणिमित्तं भद्दे! मं अण्णेससि?

चेटी— अम्हाणं भट्टिणी भणदि—अवि ह्वादो जामादुओ त्ति।

विदूषकः— किं णिमित्तं भोदि पुच्छदि।

चेटी— किमण्णं। सुमणोवण्णअं आणेमि त्ति।

विदूषकः— ह्वादो तत्तभवं। सव्वं आणेदु भोदी वज्जिअ भोअणं।

चेटी— किंणिमित्तं वारेसि भोअणं?

विदूषकः— अधण्णस्स सम कोइलाणं अक्खवरिबट्टो विअ कुक्खि—परिवट्टो संवुत्तो।

चेटी— ईदिसो एव्व होहि।

विदूषकः—गच्छदु भोदी— जाव अहं वि तत्तहोदो सआसं गच्छामि।

(निष्क्रान्तौ)

इति प्रवेशकः।

(ततः प्रविशति सपरिवारा पद्यावती आवन्तिकावेषधारिणी वासवदत्ता च।

चेटी— किण्णिमित्तं भट्टिदारिआ पमदवणं आअदा?

पद्यावती—हला! ताणि दाव सेहालिआगुम्हआणि पेक्खामि कुसुमिदाणि बा ण वेत्ति।

चेटी-भट्टिदारिए! ताणि कुसुमिदाणि णाम, पवाललन्तरिदेहिं विअ मोत्तिआमम्बएहिं आइदाणि कुसुमेहिं ।

पद्यावती-हला! जदि एव्वं, किं दाणिं विलम्बेसि?

चेटी-तेण हि इमसिस सिलावट्टए मुहुत्तणं उपविसदु भट्टिदारिआ । जाव अहं वि कुसुकावचअं करोमि ।

पद्यावती-अय्ये! किं एत्थ उपविसामो?

वासवदत्ता-एव्वं होदु ।

(उभे उपविशतः)

चेटी- (तथा कृत्वा) पेक्खदु पेक्खदु भट्टिदारिआ अद्धमणसिला बट्टएहिं विअ सेहालिआकुसुमेहि पूरिअं में अंजलिं ।

पद्यावती- (दृष्ट्वा) अहो! विइत्तदा कुसुमाणं । पेक्खदु पेक्खदु अय्या ।

वासवदत्ता-अहा! दस्सणीअदा कुसुमाणं ।

चेटी- भट्टिदारिए! किं भूयो अवइणुस्सं?

पद्यावती-हला! मा मा भूयो अवइणिअ ।

वासवदत्ता-हला! किंणिमित्तं वारेसि?

पद्यावती- अय्यउत्तो इह आअच्छिअ इमं कुसुमसमिद्धिं पेक्खस्ससि सम्माणिदा भवेअं ।

वासवत्ता भवेअं ।

वासवदत्ता-हला! थ्यओ दे भत्ता?

पद्यावती-अय्ये! ण जाणामि, अय्यउत्तेण विरहिदा उक्कण्ठिदा होमि ।

वासवदत्ता-(आत्मगतम्) दुक्खरं खु अहं करेमि । इअं वि णाम एव्वं मन्तेदि ।

चेटी- अभिजादं खु भट्टिदारिआए मन्तिदं-पिओ में भत्तेति ।

पद्यावती-एक्को खु मे सन्देहो ।

वासवदत्ता- किं किं?

पद्यावती-ज हमम अय्यउत्तो, तह एव्व अय्याए वासवदात्ताए त्ति?

वासवदत्ता-अदो वि अहिअं!

पद्यावती- कहां तुवं जाणासि?

वासवदत्ता—(आत्मगतम्) हं, अय्यउत्तपक्खवादेण अदिक्कन्दो समुदाआरो। एव्वं दाव भणिस्सं (प्रकाशम्) जइ अप्पो सिणेहो, सा सजणं ण परित्तजदि।

पद्मावती—होदव्वं।

चेटो— भट्टिदारिए! सहु भतारं भगाहि—अहं पि वोणं सिक्खिस्सामि त्ति।

पद्मावती— उत्तो मए अय्यउत्तो।

वासवदत्ता—तदो कि भणिदं?

पद्मावती—अभणिअ किंचि दिग्घं णिस्ससिअ तुण्होओ संवुत्तो।

वासवदत्ता तदो तुवं किं विअ तक्केसि?

पद्मावती— तक्केमि अय्याए वासवदत्ताए गुणाणि सुमरिअ दक्खिणदाए मम अग्गदो ण रोदिदि त्ति।

वासवदत्ता— (आत्मगतम्) धण्णा खु म्हि, जदि एव्वं सच्चं भवे।

(ततः प्रविशति राजा विदूषकश्च)

विदूषकः—ही! ही! पचिअपडिअबन्धुजीवकुसुमविरलवादरमणिज्जं पमदवणं। इदो दाव भवं।

—भास कविः

संस्कृत अनुवाद—

(ततः प्रविशति विदूषकः)

विदूषकः— (सहर्षम्) भोः। दिष्ट्या तत्रभवतः वत्सराजस्य अभिप्रेतविवाह—मंगलरमणीयः कालः दृष्टः। भोः! को नाम एतज् जानाति—तादृशे वयं अनर्थसलिला वर्ते प्रक्षिप्ताः पुनः उन्मङ्क्ष्याम इति। इदानीं प्रासादेषु उष्यते, अन्तपुरदीर्घिकासु स्नायते, प्रकृतिमधुरसुकुमाराणि मोदकखाद्यानि खाद्यन्ते इति अनप्सरः संवास उत्तर—कुरुवासो मयानुभूयते। एकः खलु महान् दोषः, मम आहारः सुष्ठु न परिणमति, मुप्रच्छदनायां अय्यायां निद्रां न लभे, यथा वातशोणितम् अभित इव वर्तत इति प्रेक्षे। भोः सुखं नाम अपरिभूतं अकल्यवर्तम् च।

(ततः प्रविशति चेटी)

चेटी—कुत्र नु खलु गत आर्यवसन्तकः? (परिक्रम्यावलोक्य) हम्मो! एष आर्यो वसन्तकः। (उपगम्य)

आर्य! वसन्तक! कः कालः त्वामन्विष्यामि।

विदूषकः— (दृष्ट्वा) किन्निमित्तं भद्रे! माम् अन्विष्यसि?

चेटी— अस्माकं भट्टिनी भणति—अपि स्नातः जामाता इति ।

विदूषकः— किन्निमित्तं भवती पृच्छति?

चेटी— किमन्यत् । सुमनोवर्णकमानयामि इति ।

विदूषकः— स्नातस्तत्रभवान् । सर्वमानयतु भवती, वर्जयित्वा भोजनम् ।

चेटी— किन्निमित्तं वारयसि भोजनम् ।

विदूषकः—अधन्यस्य मम कोविलानामक्षिपरिवत्त इव कुक्षिपरिवत्तः संवृत्तः ।

चेटी—ईदृश एव भव ।

विदूषकः— गच्छतु भवती । यावद्दहमपि तत्रभवतः सकाश गच्छामि ।

(निष्कान्तौ) इति प्रवेशकः ।

(ततः प्रविशति पद्मावती आवन्तिकावेषधारिणीवासवदत्ता च)

चेटी— किन्निमित्तं भर्तृदारिका प्रमदवनमागता?

पद्मावती— हला! तानि तावत् शेफालिकागुम्फकानि प्रेक्षे कुसुमितानि वा नवेति ।

चेटी— भर्तृदारिके! तनि कुसुमितानि नाम, प्रवालान्तरितैरिव मौक्तिकालम्बकै—राचितानि कुसुमैः ।

पद्मावती— हला! यद्येवं किमिदानीं विलम्बसे?

चेटी—तेन हि अस्मिन् शिलापट्टके मुहूर्त्तकम् उपविशतु भर्तृदारिका । यावद्दहमपि कुसुमावचयं करोमि ।

पद्मावती— आर्य्ये! थकमत्र उपविशावः!

वासवदत्ता—एवं भवतु ।

(उभे उपविशतः)

चेटी—(तथा कृत्वा) प्रेक्षतां प्रेक्षतां भर्तृदारिका अर्धमनःशिलापट्टकैरिव शेफालिकाकुसुमैः पूरितो मे अंजलिः ।

पद्मावती— (दृष्ट्वा) अहो! विचित्रता कुसुमानाम् प्रेक्षतां प्रेक्षताम् आर्या ।

वासवदत्ता— अहो! दर्शनीयता कुसुमानाम् ।

चेटी— भर्तृदारिके! किं भूयः अवचेष्टामि?

पद्मावती— हला! मा मा भूयोऽवचित्य ।

वासवदत्ता—आर्य्यपुत्र इहागत्य इमां कुसुमसमृद्धिं प्रेक्षिष्यते, सम्मानिता भवेयम् ।

वासवदत्ता—हला! प्रियस्ते भर्ता?

पद्मावतो— आर्य्ये! न जानामि। आर्य्यपुत्रेण विरहिता उत्कण्ठिता भवामि।

वासवदत्ता— (आत्मगतम्) दुष्करं खल्वहं करोमि। इयमपि नाम एवं मन्त्रयति।

चेटी— अभिजातं खलु भर्तृदारिकया मन्त्रितम्— प्रियो मे भर्तेति।

पद्मावती— एकः खलु मे सन्देहः।

वासवदत्ता— किं किम्!

पद्मावती— यथा ममार्य्यपुत्रः, तथैव आर्याया वासवदत्ताया इति?

वासवदत्ता— अतोऽप्यधिकम्।

पद्मावती— कथं त्वं जानासि?

वासवदत्ता— (आत्मगतम्) हम, आर्य्यपुत्रपक्षपातेन अतिक्रान्तः समुदाचारः। एवं तावद् भणिष्यामि।
(प्रकाशम्) यदि अल्पः स्नेहः, सा स्वजनंन परित्यजति।

पद्मावती— भवितव्यम्।

चेटी— भर्तृदारिके! साधु भर्तारं भग— अहमपि वीणां शिक्षिष्ये इति।

पद्मावती— उक्तो मयार्य्यपुत्रः।

वासवदत्ता— ततः किं भणितम्?

पद्मावती— अभणित्वा किञ्चिद् दीर्घं निःश्वस्य तूष्णीकः संवृत्तः।

वासवदत्ता— ततस्त्वं किमिव तर्कयसि?

पद्मावती— तर्कयामि आर्या ग वासवदत्ताया गुणान् स्मृत्वा दक्षिणतया ममाग्रतो न रोदितीति।

वासवदत्ता— (आत्मगतम्) धन्या खल्वस्मि, यद्येवं सत्यं भवेत्।

(ततः प्रविशति राजा विदूषकश्च)

विदूषकः— ही! ही!! प्रचितपतितबन्धुजीवकुसुमविरलत्रातरमणीयं प्रमदवनम्। इतस्तावद्भवान्।

हिन्दी अनुवाद—

(विदूषक प्रवेश करता है)

विदूषक— (सहर्ष) अहो! भाग्य से, पूज्य वत्सराज का, अभिमत विवाह—मंगल से रमणीय समय, देखा। आहो! भला कौन यह जानता था कि जलावर्त जैसे अनर्थ में पड़कर भी फिर हम उबरेंगे। इस समय महलों में रहते हैं, अन्तःपुर की बावलियों में नहाते हैं, प्रकृति—मधुर सुन्दर

लड्डू खाते हैं। इस प्रकार मैं बिना अप्सराओं के साथ के भी उत्तर कुरुवास का अनुभव कर रहा हूँ। एक ही बड़ा दोष है कि मेरा खाना ठीक से पचता नहीं, भलीभाँति बिछायी गयी शय्या पर भी नींद नहीं आती। ऐसा प्रतीत होता है कि सब ओर से वातरक्त घेरे हुए हैं। सुख वह है कि कलेवा मिलने में बाधा न हो।

(चेटी प्रवेश करती है)

चेटी— कहाँ चले गये कार्य वसन्तक? (घूमकर देखती है) ओह! यह रहे आर्य वसन्तक। (समीप जाकर) आर्य वसन्तक! कितने समय से आपको खोज रही हूँ।

विदूषक— (देखकर) क्यों खोज रही हो मुझे भद्रे?

चेटी— हमारी स्वामिनी पूछती है— जामाता स्नान कर चुके क्या?

विदूषक—किसलिए पूछती हैं देवी?

चेटी— दूसरा क्या? फूल आदि ले आऊँ, यही।

विदूषक— वे नहा चुके। सब ले आयें, खाना छोड़कर

चेटी—भोजन, क्यों मना करते हैं?

विदूषक—कोयलों की आँख पलटने की तरह मुझ अभागे का पेट उलट गया है।

चेटी— ऐसे ही रहो।

विदूषक—जाइये आप! तब तब मैं भी महाराज के पास जाता हूँ।

(दोनों निकल जाते हैं)

प्रवेशक समाप्त

(अब परिजनों सहित पद्मावती और आवन्तिका के वेष में वासवदत्ता प्रवेश करती हैं)

चेटी— स्वामिपुत्रि, प्रमदवन क्यों आयी हैं?

पद्मावती—सखि! उन्हीं शेफाली कुंजों की देखूँगी कि वे फूले या नहीं।

चेटी— स्वामिपुत्रि! वे तो फूल गये, मूँगे के बीच मोती की मालाओं की भाँति फूलों से वे लदे हैं।

पद्मावती— अगर ऐसा है सखि! तो अब देर क्यों कर रही हो?

चेटी— तो स्वामिपुत्रि! इस शिलापट्ट पर क्षणभर बैठें। जब तक मैं फूल चुन लूँ।

पद्मावती—आर्ये! क्या यहाँ बैठा जाय?

वासवदत्ता— ऐसा ही करें!

(दोनों बैठती हैं)

चेटी— (वैसा करके) देखिये स्वामिपुत्रि! देखिए, मैं सिल के छोटे-छोटे टुकड़ों की तरह शेफाली-पुष्पों से मेरी अंजलि भर गयी।

पद्मावती— (देखकर) अहो! सुमनों की विविधता? देखें आर्या, देखें।

वासवदत्ता—अहो! देखने लायक फूल हैं।

चेटी— स्वामिपुत्रि! क्या और चुन लूँ?

पद्मावती—मत चुनो सखि! मत चुनो।

वासवदत्ता—मना क्यों करती हो सखि?

पद्मावती—आर्यपुत्र यहाँ आकर यह पुष्प-वैभव देखेंगे, तो सम्मानित होऊँगी।

वासवदत्ता— सखि! तुम्हें स्वामी प्रिय हैं?

पद्मावती— नहीं जानती आर्ये। (पर) आर्यपुत्र से अलग होकर उत्कण्ठित हो जाती हूँ।

चेटी— कुलीनता से ही स्वामिपुत्री ने कहा कि मुझे स्वामी प्रिय हैं।

पद्मावती—मुझे एक सन्देह है।

वासवदत्ता—क्या? क्या??

पद्मावती— जैसे आर्यपुत्र मेरे हैं, वैसे ही आर्या वासवदत्ता के भी हैं (क्या)?

वासवदत्ता—उससे भी अधिक।

पद्मावती— तुम कैसे जानती हो?

वासवदत्ता— (स्वगत) हूँ, आर्यपुत्र के पक्षपात के कारण मुझसे व्यवहार का उल्लंघन हो गया।

भवतु, ऐसा कहती हूँ। (प्रकाश) अगर थोड़ा स्नेह होता तो वह स्वजनों को छोड़ती नहीं।

पद्मावती— हो सकता है।

चेटी— भर्तृदारिके! स्वामी से कहें—मैं भी वीणा सीखूँगी।

पद्मावती—मैंने आर्यपुत्र से कहा था।

वासवदत्ता—तो क्या कहा (उन्होंने)?

पद्मावती— कुछ न कहकर, लम्बी साँस छोड़कर, चुप रह गये।

वासवदत्ता—अनुमान करती हूँ कि आर्या वासवदत्ता के गुणों को यादकर दाक्षिण्य के कारण मेरे आगे रोते नहीं।

वासवदत्ता— (स्वगत) धन्य हूँ मैं, अगर यह सच हो।

(राजा और विदूषक प्रवेश करते हैं)

विदूषक— ओ हो! बिछे पड़े बन्धुजीव—पुष्पों वाला एवं विरल पवनवाला यह प्रमदवन रमणीय है। इधर आयें आप।

रत्नावली (चतुर्थोऽङ्कः)

(ततः प्रविशति रत्नामालामादाय साम्रा सुसंगता)

सुसंगता— (सकरुणं निःश्वस्य) हा पिअसहि साअरिए। हा लज्जालुए! हा सहीगणवच्छले! हा उदारसीले! हा सोम्मदंसणे! कहिं गदासि! छेहि मे पडिवअणं इति रोदिति। ऊर्ध्वमवलोक्य निःश्वस्य च) हं हो देव्हहदअ। अकरण। असामण्णरूवसोहा तादिसी तुए जइ णिमिदा ता कसि उण ईदिसं अवत्थन्तरं पाविदा। एयं च रअणमाला जीविदणिरासाए ताए कस्सवि बम्हणस्स हत्थे पडितादेसुत्ति भणिअ मम हत्थे समप्पिदा। ता जाव कंपि बम्हणं अण्णेसामि। (नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) अए! कहं एसो क्खु बम्हणो वसन्तओ इध एव्व आअच्छदि। ता इमस्सिस्स एव्व पडिवादइस्सं।

(ततः प्रविशति हृष्टो वसन्तकः)

वसन्तकः— ही ही। भो भोः। अज्ज क्खु पिअ वअस्सेण पसादिदाए तत्ताभोदीए वासवदत्ताए बंधणादो मोचिअ सहत्थदिण्णेहि मोदअलड्डुआहिं उदरं भे सुपूरिदं किदं। अण्णं च। एदं पटंसुअजुअलं कण्णाभरणं अ दिण्णं। ता जाव दाणिं पिअवअस्सं पेक्खिस्सं। (इति परिक्रामति)।

सुसंगता— (रूदती सहसोपसृत्य) अज्ज वसन्तअ। चिट्ठ दाव तुमं मुहुत्तअं।

वसन्तकः— (दृष्ट्वा) कधं सुसंगदा। सुसंगदे! एत्थ किंणिमित्तं रोदोअदि। ण क्खु साअरिआए अच्चाहिदं किं पि संवुत्तम्।

सुसंगता— इदं ज्जेव्व णिवेदइदुकामा। सा क्खु तवस्सिणी देवीए उज्जइणिं णीदेत्ति प्पवादं कदुअ उवत्थिते अद्धरत्ते ण जाणीअदि कहिं णीदेत्ति।

वसन्तकः— (सोद्धगम्) हा भोदि साअरिए। हा असामाण्ण रूवसोहे। हा मिदुभासिणि। अदिणिग्घिणं दाणिं देवीए किदम्। तदो तदो।

सुसंगता—एसा रअणमाला ताए जीविदणिरासाए अज्जवसन्त—अस्स हत्थे पडिवादेसित्ति भणिअ मम हत्थे समप्पिदा । ता णं गेण्हदु अज्जो एदम् ।

वसन्तकः— (सास्रं सकरुणं कर्णो पिधाय) भोदि ण मम ईदिसे पत्थावे एदं वोढुं हत्थो पसरदि (इत्युभौ रुदतः) ।

सुसंगता— (अंजलिं बद्ध्वा) ताए एव्व अणग्गहं करन्तो अङ्गीकरेदु एदं अज्जो ।

वसन्तकः— (विचिन्त्य) अहवा उवणेहि । जेण इमाए ज्जेव्व सा—अरिआविरहकुण्ठिदं पिअवअस्सं विणोदेमि ।

(सुसङ्गता वसन्तकस्य हस्ते रत्नामालां ददाति)

वसन्तकः— (गृहीत्वा निरूप्य सविस्मयम्) भोदि! कुदो उण ईदिसस्स अलंकारस्स समागमो?

सुसङ्गता— अज्ज! मए वि सा कोदूहलेण पुच्छिदा असि ।

वसन्तकः— तदा ताए किं भणिदं ।

सुसङ्गता— तदो सा उद्धं पेक्खिअ दीहं णिस्ससिअ । सुसंगदे, किं दाणिं तुह इमाए कधाए त्ति भणिअ रोदिदुं पउत्ता ।

वसन्तकः— णं कधिदं एव्व ताए । सामण्णदुल्लहेण इमिणा परिच्छदेण सव्यधा महाभिजणसमुप्पण्णाए होदव्वं । सुसंगदे! पिअवअस्सो दाणिं कहिं ।

सुसङ्गता— अज्ज एसो क्खु भट्टा देवीभवणदो णिक्कमिअ फडिअसि—लामण्डवं गदो । ता गच्छदु अज्जो । अहं वि देवीए वासवदत्ताए परिचारिणी भविस्सं ।

—महाराजश्रीहर्षदेवः

संस्कृत अनुवाद—

(ततः प्रविशति हृष्टो वसन्तकः)

वसन्तकः— ही! ही! भो भोः! अद्य खलु प्रियवयस्येन प्रसादितया पत्रभवत्या वासवदत्तया बन्धनान्मोचयित्वा स्वहस्तदत्तैर्मोदकलङ्कुः उदरं मे सुपूरितं कृतम् । अन्यच्च । एतत्पट्टांशुकयुगलं कर्णाभरणं च दत्तम् । तद्यावदिदानीं प्रियवयस्यं प्रेक्षिष्ये । (इति परिक्रामति) ।

सुसङ्गता— (रुदती सहस्रोपसृत्य) आर्य वसन्तक! तिष्ठ तावत्त्वं मुहूर्तकम् ।

वसन्तकः— (दृष्ट्वा) कथं सुसंगता । सुसंगते । अत्र किं निमित्तं रुद्यते । न, खलु सागरिकाया अत्याहितं किमपि संवृत्तम् ।

सुसङ्गता— एतदेव निवेदयितुकामा। सा खलु तपस्विनी देव्या उज्जयिनीं नीतेति प्रवादं कृत्वोपस्थितेऽर्धरात्रे न ज्ञायते कुत्र नीतेति।

वसन्तकः— (सोद्वेगम्) हा भवति सागरिके! हा असामान्यरूपशोभे! हा मृदुभाषिणी! अतिनिर्घृणमिदानीं देव्या कृतम्। ततस्ततः।

सुसंगता— एषा रत्नमाला तया जीवितनिराशया आर्यवसन्तकस्य हस्ते प्रति—पादयस्वेति भणित्वा मम हस्ते समर्पिता। तद् ननु गृह्णात्वार्थः एताम्।

वसन्तकः— (साम्प्रं सकरणं कर्णौ पिधाय) भवति! न ममेदृशे प्रस्तावे एतां वोढुं हस्तः प्रसरति। (इत्युभौ रुदतः)।

सुसंगता— (अंजलिं वद्ध्वा) तस्या एवानुग्रहं कुर्वन्नङ्गीकरोतु एतामार्यः।

वसन्तकः— (विचिन्त्य) अथवोपनय। येनानयैव सागरिकाविरहकुण्ठितं प्रियवयस्यं विनोदयामि। (सुसंगता वसन्तकस्य हस्ते रत्नमालां ददाति)

वसन्तकः— (गृहीत्वा निरूप्य सविस्मयम्) भवति! कुतः पुनरीदृशस्यालंकारस्य समागमः?

सुसंगता—आर्य! मयापि सा कौतूहलेने पृष्टा आसीत्।

वसन्तकः— ततः तया किं भणितम्।

सुसंगता— ततः सा ऊर्ध्वं प्रेक्ष्य दीर्घं निःश्वस्य सुसंगते, किमिदानीं, तवानया कथये' ति भणित्वा रोदितुं प्रवृत्ता।

वसन्तकः— ननु कथितमेव तया। सामान्यजनदुर्लभेनानेन परिच्छेदेन सर्वथा सहाभिजनसमुत्पन्नया तया भवितव्यम्। सुसंगते! प्रियवयस्य इदानीं कुत्र?

सुसंगता—आर्य! एष खलु भर्ता देवीभवनतः निष्क्रम्य स्फटिक—शिलामण्डपं गतः। अहमपि देव्या वासवन्तायाः परिचारिणी भविष्यामि।

हिन्दी अनुवाद—

(रत्नमाला लिए सजलनयना सुसंगता प्रवेश करती है)

सुसंगता— (करुण निःश्वास छोड़कर) हा प्रियसखि! सागरिका! ओ लजीली! ळा सखियों से स्नेह रखने वाली! हा उदारशीले! हा सौम्यदर्शने! कहाँ गयी? मुझे उत्तर दो (रोती है)। ऊपर देखकर और साँस छोड़कर) हाय रे दुष्ट दैव! अकरुण! वैसी असामान्य रूपशोभा अगर तूने बनायी, तो फिर ऐसी अवस्था तक क्यों पहुँचाया? और यह रत्नमाला जीवन से निराश हो

उसने 'किसी ब्राह्मण के हाथ तक पहुँचा देना' कहकर मेरे हाथ में दी थी। तो फिर किसी ब्राह्मण को ही खोजूँ। (परदे की ओर देखकर) अरे! ये क्या ब्राह्मण वसन्तक इधर ही आ रहे हैं। तो इन्हीं को दे दूँ।

(प्रसन्न वसन्तक प्रवेश करता है)

वसन्तक— ही ही! वाह वाह! आज तो प्रिय मित्र द्वारा मनायी गयी देवी वासवदत्ता ने बन्धन से छुड़ाकर अपने हाथों दिये मतभाते लड्डुओं से खूब मेरा पेट भरा है और ऊपर से यह रेशमी कपड़ों का जोड़ा और कर्णाभूषण भी दिया है तो फिर अब प्रियमित्र को खोजूँ। (घूमता है)

सुसंगता— (रोती हुई एकाएक समीप आकर) आर्य वसन्तक! आप क्षणभर ठहरें तो।

वसन्तक— (देखकर) कौन सुसंगता! सुसंगता! यह रोना क्यों? सागरिका का कुछ अमंगल तो नहीं हुआ?

सुसंगता— यही तो कहना चाहती हूँ। देवी ने वह उज्जयिनी ले जायी गयी है' ऐसा प्रवाद फैलाकर आधी रात होने पर न जाने उस बेचारी को कहाँ भेज दिया है।

वसन्तक— (उद्वेगपूर्वक) हा देवि सागरिके! हा विलक्षण रूपराशिवाली! हा मृदुवचने! यह तो अत्यन्त निर्दय कार्य देवी ने किया है। फिर?

सुसंगता— यह रत्नमाला जीवन से निराश होकर उसने 'आर्य वसन्तक को दे देना' कहकर मेरे हाथों सौंपी थी। सो इसे तो आप ले ही लें।

वसन्तक— (अश्रुपूर्ण नेत्र एवं सकरुण होकर और दोनों कान मूँदकर) देवि! ऐसे प्रस्ताव पर, इसे ढोने में मेरे हाथ बढ़ते नहीं। (दोनों रोते हैं)।

सुसंगता— (हाथ जोड़कर) उसी पर अनुग्रह करके आर्य इसे ले लें।

वसन्तक— (सोचकर) अथवा लाओ। इसी से सागरिका के विरह में क्षुब्ध प्रियवयस्य का मन बहलाऊँगा।

(सुसंगता वसन्तक के हाथ में रत्नमाला देती है)

वसन्तक—(लेकर, भलीभाँति देखकर आश्चर्यपूर्वक) देवि! ऐसा अलंकार उसे भला कहाँ से मिला?

सुसंगता— आर्य! मैंने भी कुतुहलवश उससे पूछा था।

वसन्तक— तो उसने क्या कहा?

सुसंगता— तो वह ऊपर देखकर लम्बी साँस छोड़कर सुसंगते! तुम्हें इससे क्या?’ कहकर रोने लगी।

वसन्तक— तब तो उसने कह ही दिया। सामान्यजन द्वारा दुर्लभ इस रत्न से तो लगता है कि वह ऊँचे कुल में उत्पन्न हुई होनी चाहिये। सुसंगते! प्रियमित्र इस समय कहाँ है?

सुसंगता— आर्य! यहीं अभी—अभी स्वामी देवी के भवन से निकलकर स्फटिक—शा—मण्डप गये हैं। तो आर्य जायं! मैं देवी वासवदत्ता की सेवा में जाती हूँ।

इकाई -3

अपभ्रंशमुक्तकसंग्रहः

जे महु दिण्णा दिअहडा दइएँ पवसन्तेण ।
ताण गणन्तिएँ अंगलिउ जज्जरिआउ नहेण ॥1॥
सायरु उप्परि तणु धरइ तलि घल्लइ रयणाइं ।
सामि सुभिच्चु वि परिहरइ संकाणेइ खलाइं ॥2॥
जो गुण गोवइ अप्पणा पयदा करइ परस्सु ।
तसु हउँ कलि-जुगि दुल्लहो बलि किज्जउँ सुअणस्सु ॥3॥
अग्गिएँ उण्हउ होइ जगु वाएँ सीअलु तेवँ ।
जो पुणु अग्गि सीअला तसु उण्हत्तणु केवँ ॥4॥
जिवँ जिवँ वंकिम लोअणहं णिरु सामलि सिक्खेइ ।
तिवँ तिवँ वम्महु निअय-सर खर-पत्थरि तिक्खेइ ॥5॥
भल्ला हुआ जुमारिआ बहिणि महारा कन्तु ।
लज्जेज्जन्तु वयंसिअहु जइ भग्गा घरु एन्तु ॥6॥
वायसु उड्डावन्तिअए पिउ दिट्ठउ सहस ति ।
अद्धा वलया महिहि गय अद्धा फुट्ट तड ति ॥7॥
एक्कहिं अक्खिहिं सावणु अन्नहिं भद्वउ,
माहउ महिअल-सत्थरि गण्डत्थलें सरउ ।
अंगिहिं गिम्ह सुहच्छीतिल वणि मग्गसिरु,
तहें मुद्धहें मुह-पंकइ आवासिउ सिसिर ॥8॥
जइ पुच्छह घर वड्डाइं तो वड्डा घर ओइ ।
विहलिअ-जण-अब्भुद्धरणु कन्तु कुडीरइ जोइ ॥9॥
मुद्धि निहालहि गयण-यलु कइ जण जोण्ह करन्ति ॥10॥
अम्बणु लाइवि जे गया परिअ पराया के वि ।
अवस न सुअहिं सुहच्छिअहिं जिवँ अम्हइँ तिवँ ते वि ॥11॥
महु कन्तहो बे दोसडा हेल्लि म जंखहि आलु ।

देन्तहों हउँ पर उव्वरिअ जुज्झन्तहो करवालु ॥12॥
 जइ भग्गा पारक्कडा तो सहि मज्झु पिण्ण ।
 अह भग्गा अम्हहं तणा तो तें मारिअडेण ॥13॥
 बप्पीहा पिउ पिउ भणवि कित्तिउ रुअहि हयास ।
 तुह जलि महु पुणु वल्लहइ बिहुँ वि न पूरिअ आस ॥14॥
 बलि-अब्भत्थणि महु-महणु लहुईहूआ सोइ ।
 जइ इच्छहु वड्डत्तणउँ देहु म मग्गहु कोइ ॥15॥
 सन्ता भोग जु परिहरइ तसु कन्तहों मलि कीसु ।
 जसु दइवेण वि मुण्डियउँ जसु खल्लिहडउँ सीसु ॥16॥
 पुत्तें जाएँ कवणु गुणु अवगुणु कवणु मुएण ।
 जा बप्पीकी भुंहडी चम्पिज्जइ अवरेण ॥17॥
 जइ केवँइ पावीसु पिउ अकिआ कुड्ड करीसु ।
 पाणिउ नवइ सरावि जिवँ सव्वंगे पइसीसु ॥18॥
 विप्पिअ-आरउ जइ वि पिउ तो वि तं आणहि अज्जु ।
 अग्गिण दड्ढा जइ वि घरु तो तें अग्गि कज्जु ॥19॥

संस्कृत अनुवाद-

ये मम दत्ताः दिवसाः दयितेन प्रवसता ।
 तान् गणयन्त्याः अङ्गुल्यः जर्जरिताः नखेन ॥1॥
 सागरोपरि तृणानि धरति तले क्षिपति रत्नानि ।
 स्वामी सुभृत्यमपि परिहरति सम्मानयति खलान् ॥2॥
 यः गुणान् गोपयत्यात्मीयान् प्रकटान् करोति परस्य ।
 तस्याहं कलियुगे दुर्लभस्य बलिं करोमि सुजनस्य ॥3॥
 अग्निनोष्णं भवति जगत् वातेन शीतलं तथा ।
 यः पुनः अग्निना शीतल तस्योष्णत्वं कथम् ॥4॥
 यथा यथा वक्रिमाणं लोचनयोः नितरां श्यामला शिक्षते ।
 तथा तथा मन्मथः निजकशरान् खरप्रस्तरे तीक्ष्णयति ॥5॥

भव्यं भूतं यन्मारितो भगिनि! अस्मदीयः कान्तः ।
 अलज्जिष्यम् वयस्याभ्यः यदि भग्नः गृहमैष्यत् ॥6॥
 वायसमुड्डापयन्त्याः प्रियो दृष्टः सहसेति ।
 अर्धानि वलयानि मह्यां गतान्यर्धानि स्फुटितानि तटिति ॥7॥
 एकस्मिन्नक्षिण श्रावणः अन्यस्मिन् भाद्रपदः,
 माधवः (माघः) महीतलस्रस्तरे गण्डस्थले शरत् ।
 अंगेषु ग्रीष्मः सुखासिकातिलवने मार्गशीर्षः,
 तस्याः मुग्धायाः मुखपंकजे आवासितः शिशिरः ॥8॥
 यदि पृच्छथ गृहाणि महान्ति तन्महान्ति गृहाण्यमूनि ।
 विह्वलितजनाभ्युद्धरणं कान्तं कटीरके पश्य ॥9॥
 वयं स्तोकाः रिपवः बहवः कातराः एवं भणन्ति ।
 मुग्धे निभालय गगनतलं कति जनाः ज्योत्स्नां कुर्वन्ति ॥10॥
 अम्लत्वं लागयित्वा ये गताः पथिकाः परकीयाः केऽपि ।
 अवश्यं न स्वपन्ति सुखासिकायां यथा वयं तथा तेऽपि ॥11॥
 मम कान्तस्य द्वौ दोषो सखि! मा पिधेहि अलीकम् ।
 ददतोऽहं परमुर्वरिता युध्यमानस्य करवालः ॥12॥
 यदि भग्नाः परकीयाः तत् सखि! मम प्रियेण ।
 अथ भग्नाः अस्मदीयाः तत्तेन मारितेन ॥13॥
 चातक! प्रियः प्रियः (पिबामि पिब मि) भणित्वा कियद् रोदिषि हताश ।
 तव जले, मम पुनर्वल्लभे, द्वयोरपि न पूरिताशा ॥14॥
 वल्यभ्यर्थने मधुमथनः लघुकीभूतः सोऽपि ।
 यदीच्छथ महत्त्वं दत्त, मा मार्गयत कमपि ॥15॥
 सतो भोगान् यः परिहरति तस्य कान्तस्य बलिं क्रिये ।
 तस्य दैवेनैव मुण्डितं यस्य खल्वाटं शीर्षम् ॥16॥
 पुत्रेण जातेन को गुणोऽवगुणः कः मृतेन ।
 यत्पैतृको भूमिः आक्रम्यतेऽपरेण ॥17॥

यदि कथंचित् प्राप्स्यामि प्रियमकृतं कौतुकं करिष्यामि ।

पानीयं नवके शरावे यथा सर्वागेण प्रवेक्ष्यामि ॥18॥

विप्रियकारकः यद्यपि प्रियः तदपि तमानयाद्य ।

अग्निना दग्धं यद्यपि गृहं तदपि तेनाग्निना कार्यम् ॥19॥

हिन्दी अनुवाद—

प्रवास जाते हुए मेरे प्रियतम ने मुझे जिन दिनों को (आने के लिए) दिया था, उन्हें गिनते हुए नखों से मेरी अंगुलियाँ जर्जरित हो गयी ॥1॥

(जैसे) सागर ऊपर तृणों को धारण करता है तथा रत्नों को तल में डाल देता (रखता) है । (उसी प्रकार) मालिक अच्छे भृत्य का तो त्याग कर देता है (परन्तु) दृष्टों का सम्मान करता है ॥2॥

जो अपने गुणों को छिपाता है (परन्तु) दूसरों के गुणों को प्रकट करता है, कलियुग में दुर्लभ उस सुजन पर मैं बलि हो जाता हूँ ॥3॥

अग्नि से (यह) संसार उष्ण होता है तथा वायु से शीतल होता है, परन्तु जो अग्नि से (भी) शीतल होता हो उसके लिए उष्णता कैसी? ॥4॥

श्यामला जैसे-जैसे अपने नयनों में बाँकपन लाना सीखती है, वैसे-वैसे कामदेव अपने बाणों को खर-पत्थर पर तीक्ष्ण करता है ॥5॥

हे बहन! (यह) अच्छा (ही) हुआ कि मेरा पति (युद्ध में) मार डाला गया । (क्योंकि) यदि क्षत (भागकर) होकर घर आता तो मैं सखियों से लजवायी जाती ॥6॥

कौआ उड़ाती हुई नायिका ने सहसा प्रियतम को देख लिया । (इसी बीच) उसके आधे कंगन (चूड़ियाँ) पृथ्वी पर गिर गये (तथा) आधे तड़-तड़ करके टूट गये ॥7॥

उस मुग्धा (नायिका) की एक आँख में श्रावण मास, दूसरी में भाद्रपद है । पृथ्वी पर स्थित उसके बिस्तर पर माधव (माघ) है, गण्डस्थल पर शरदऋतु (विद्यमान) है, (उसके) शरीर में ग्रीष्मऋतु (परिलक्षित हो रहा है), चैन के तिलवन में मार्गशीर्ष (का निवास) है तथा मुग्धा के मुखपंकज में शिशिरऋतु ने आवास बना लिया है ॥8॥

यदि बड़े घर पूछते हो तो वह बड़ा घर है । (परन्तु) विह्वलित जनों के उद्धार करने वाले (मेरे) कान्त को कुटिया में देखो ॥9॥

हम लोग थोड़े हैं तथा शत्रु बहुत हैं, ऐसा कायर लोग कहते हैं। हे मुग्धे! इस आकाश को देखो, कितने जन तारागण) प्रकाश करते हैं।।10।।

ललक लगाकर जो पथिक परकीय (दूसरी स्त्रियों के प्रियतम) हो चले गये, अवश्य ही वे हम लोगों की तरह ही सुखासिका पर सुखपूर्वक नहीं सोते होंगे।।11।।

हे सखि! झूठ मत बोल, मेरे पति में दो दोष हैं— दान करते हुए मैं तथा युद्ध करते हुए करवाल बच गयी।।12।।

हे सखि! यदि शत्रु मारे गये हैं तो (उन्हें) मेरे प्रियतम से (प्रियतम ने ही मारा होगा) तथा यदि हमारे पक्ष के लोग भागे तो मेरे पति के मारे जाने पर (ही भागे होंगे)।।13।।

हे चातक! प्रिय—प्रिय' (पीऊँगा, पीऊँगा) कहकर हताश, कितने समय तक रोओगे? जल—विषयक तुम्हारी तथा प्रिय—विषयक मेरी—दोनों की—आशा पूरी नहीं हुई।।14।।

बलि से याचना करते पर वे विष्णु भगवान् भी छोटे हो गये थे। (अतः) यदि बड़प्पन चाहते हो तो दान दो, किसी से माँगों मत।।15।।

(भोगों के) रहते हुए (भी) जो भोगों को छोड़ देता है, उस प्रियतम के प्रति मैं बलि जाती हूँ। जिसका सिर खल्वाट है उसे तो भाग्य ने ही मूँड (मुण्डित कर) दिया है।।16।।

यदि पैतृक भूमि दूसरों के द्वारा दबा ली जाती है तो उस पुत्र के उत्पन्न होने से क्या गुण (लाभ) और मरने से क्या अवगुण (हानि)।।17।।

यदि किसी प्रकार प्रिय को पा जाऊँगी तो न किया हुआ (अपूर्व) कौतुक करूँगी। जैसे नये शराब (कसोरे) में जल प्रविष्ट हो जाता है (वैसे ही) सर्वांग रूप से उस (प्रिय) में प्रविष्ट हो जाऊँगी।।18।।

प्रियतम यद्यपि अप्रिय कार्य करने वाले हैं फिर भी उसे आज ही लाओ। यद्यपि अग्नि से घर जल गया है फिर भी उस अग्नि की आवश्यकता होती ही है।।19।।

सन्देशरासकम्

(क)

जइ अत्थि णई गंगा तियलोए णिच्च—पयडिय—पहावा ।

वच्चइ सायर—समुहा ता सेस—सरी म वच्चन्तु।।1।।

जइ सरवरम्मि विमले सूरे उइयम्मि विअसिआ नलिणी ।

ता किं वाडि विलग्गा मा विअसउ तुंबिणी कह वि ।।2।।
जइ भरहभावछन्दे णच्चइ णवरंग-चंगिमा तरुणी ।
ता किं गाम-गहिल्ली ताली-सद्दे ण णच्चेइ ।।3।।
जइ बहुल-दुद्धे संमीलिया य उल्ललइ तण्डुला खीरी ।
ता वणकुक्कससहिआ रब्बडिया मा दडब्बडउ ।।4।।
जा जस्स कव्वसत्ती सा तेण अलज्जिरेण भणियव्वा ।
जइ चउमुहेण भणियं ता सस-कई मा भणिज्जन्तु ।।5।।

(ख)

तवण-तित्थु चाउद्विसि मियच्छि बखाणिअइ,
मूलथाणु सुपसिद्धउ महियलि जाणियइ ।
तिहँ हुन्तउ हउं इक्कण लेहउ पेसियउ,
खम्भाइत्तई वच्चउँ पहु-आएसिउ ।।1।।
एय वयण अयन्निवि सिन्धुब्भव-वयणि,
ससिउ सासु दीहुन्हउ सलिलब्भव-नयणि ।
तोडि करंगुलि करुण सगग्गिर गिर पसरु,
जालन्धरि समीरिण मुद्ध थरहरिअ चिरु ।।2।।
रुइवि खणद्धउ फुसवि नयत पुण वज्जरिउ,
खम्भाइत्तह णामि पहिय तणु जज्जरिउ ।
तह महु अच्छइ णाहु विरह-उल्लावयरु,
अहिअ-कालु गम्मियउ ण आयउ णिदयरु ।।3।।
पाउ मोडिवि निमिसिद्धु पहिय जइ दय करि,
कहउं किम्पि सन्देसउ पिय तुच्छक्खरिहि ।
पहिअ भणइ कणयंगि कहह किं रुन्नयण,
धिज्जन्ति गिरु दीसहि उव्विन्नमिय हयण ।।4।।
जसु णिग्गामि रेणुक्करडि किअण विरह-दवेण ।
किव दिज्जइ सन्नेहडउ तसु निट्ठुरय मणेण ।।5।।

जसु पवसन्त ण पवसिआ मुहअ विओइ ण जसु ।
लज्जिज्जउ सन्देसडउ दिन्ती पहिय पियासु ॥6॥ ।
लज्जिवि पथिअ जइ रहउ न धरणउ जाइ ।
गाह पढिज्जसु इक्क पिय कर लेविण मण्णाइ ॥7॥ ।
तुह विरह-पहर-संचूरिआइ विहडन्ति जं न अंगाइं ।
तं अज्ज कल्ल-संघडउसहे णाह तग्गन्ति ॥8॥ ।

संस्कृत अनुवाद—

(क)

यद्यस्ति नदीं गंगा त्रिलोके नित्यप्रकटितप्रभावा ।
व्रजति सागरसम्मुख तत् शेषसरितः मा व्रजन्तु ॥1॥ ।
यदि सरोवरे विमले सूर्ये उदिते विकसिता नलिनी ।
तत् किं वृतिविलग्ना मा विकसतु तुम्बिनी (अलाव) कथमपि ॥2॥ ।
यदि भरतभावछन्दसि नृत्यति नवरंगचंगिमा (लीलावती) तरुणी ।
तत्किं ग्रामगर्दभिल्ली तालीशब्दे न नर्तयति ॥3॥ ।
यदि बहुलदुग्धे सम्मीलिताश्च उल्लसन्ति तण्डुलाः क्षीरिणः ।
तत्कणतुषसहिता रब्बडिका मा दडबडायताम् ॥4॥ ।
या यस्य काव्यशक्तिः सा अलज्जिरेण भणितव्या ।
यदि चतुर्मुखेण भणितं तच् शेषकविभिः मा भण्यन्ताम् ॥5॥ ।

(ख)

तपनतीर्थं चतुर्दिक्षु मृगाक्षि व्याख्यानीयते (व्याख्यायते) ।
मूलस्थानं सुप्रसिद्धकं मीतले ज्ञायते ॥
तस्मात् भावत्कः अहमेकेन लेखः प्रेषितः ।
स्कम्भादित्ये व्रजामि प्रभ्वादेशिकः ॥1॥ ।
एतद्वयनमाकर्ण्य सिन्धुद्भववदनी (वदना),
श्वसित्वा श्वासं दीर्घोष्णकं सलिलोद्भवनयनी (नयना) ।
त्रोटयित्वा कराङ्गुलिं करुणं सगद्गदं गिरं प्रसृता,

जालन्धरी—(कदली) समीरेण मुग्धा थरथरिता (कम्पिता) चिरम् ।।2।।
 रुदित्वा क्षणार्द्धकं स्पृष्ट्वा नयणं पुनः उक्तवती,
 स्कम्भादित्यस्य नाम्ना पथिकतनुः जर्जरिता ।
 तत्र मम आक्षीयति (आस्ते) नाथः विरह आह्लादकरः ।
 अधिककालं गतकः न आगतः निर्दयालः (निर्दयालुः) ।।3।।
 पादौ मोटयित्वा नमयित्वा निमिषार्द्धकं पथिक यदि दयां कुः,
 कथयामि किमपि सन्देशकं प्रियं तुच्छाक्षरैः ।
 पथिकः भणति कनकांगि! कथय किं रुदितेन,
 क्षीयमाना नीरं दृश्यसे उद्विग्नमृगहायना ।।4।।
 यस्य निर्गमे रेणूत्करटिका (रेणुराशिः) कृता न विरहदवेन,
 कथमिव दीयते सन्देशटकः तस्य (तस्यै) निष्ठुरकमनसा ।।5।।
 यस्य प्रवसति न प्रोषिता मृतका वियोगे न यस्य ।
 लज्जे सन्देशकं ददती पथिकप्रियस्य (प्रियाय) ।।6।।
 लज्जित्वा पथिक! यदि रमे (भवामि) हृदयं न धरणकं याति ।
 गाथा पठ्यस्व (पठ्यताम्) एका प्रियं कृत्वा नीतं मानयित्वा (प्रसाद्य) ।।7।।
 तव विरहप्रहारसंचूर्णितानि विघटन्ते यन्न अंगानि ।
 तदद्यकल्यसंघाटनोत्साहे नाथ! स्थगन्ति (बध्यन्ते) ।।8।।

हिन्दी अनुवाद—

यदि त्रिलोक में नित्य प्रकटित प्रभाववाली गंगा नदी सागर में जाती है, तो दूसरी नदियाँ रहें, न रहें ।।1।।

यदि सूर्य के उदित होने पर स्वच्छ सरोवर में नलिनी विकसित होती है, तो किसी प्रकार वन में तुम्बिनी (लौकी) विकसित हो, न हो ।।2।।

यदि भरतमुनिप्रणीत (ताल—मात्रा में) नये रंगवाली सुन्दरी तरुणी नृत्य करती है, तो ग्रामीण महिलाएँ ताली के शब्द के साथ नाचें, न नाचें ।।3।।

यदि अधिक दूध में मिलाये गये दूध वाले तण्डुल उबाल खाते हैं तो कण और भूसे—सहित रबड़ी (पात्र में) डबडबाये, न डबडबाये।।4।।

जो जिसकी काव्यशक्ति हो उसे लज्जाविहीन (स्पष्ट) होकर करना चाहिये। यदि ब्रह्मा ने ही कहा है, तो उन भणितियों को शेष कवि कहें, न कहें।।5।।

हे मृगनयनी! चारों दिशाओं में तपनतीर्थ की व्याख्या की जाती है, उसे ही सुप्रसिद्ध मुल्तान' ऐसा पृथ्वी पर जाना जाता है। अतः मैंने एक आदमी के द्वारा आप का लेख खम्भात भेजवा दिया है। (अब) प्रभु के आदेश का पालन करने वाला मैं जाता हूँ।।1।।

ऐसी बात सुनकर उस चन्द्रवदना कमलनयनी ने लम्बे—लम्बे गरम श्वास लेकर कराङ्गुलियों को तोड़कर (मरोड़कर) गद्गद कण्ठ से करुण वचन कहे तथा कदली वृक्ष की वायु से मुग्ध होकर बड़ी देर तक वह कँपी।।2।।

थोड़ी देर रोकर, अपनी आँखों को पोंछकर उसने फिर कहा कि हे पथिक! खम्भात के नाम से ही मेरा शरीर जर्जर हो गया है। वहाँ मेरा प्रिय, जो विरह को शान्त करने वाला है, अधिक दिन हुए, गया, किन्तु वह निर्दयी लौटकर नहीं आया।।3।।

हे पथिक! मैं तुम्हारे पैर पड़ती हूँ, यदि थोड़ी देर दया करो तो मैं अपने टूटे—फूटे अक्षरों में कुछ प्रिय सन्देश कहूँ। पथिक कहता है कि हे सुवर्ण की भाँति अंगों वाली! उद्विग्न मृगछौने की तरह (तुम) क्षीण होती हुई आँसू दिखा रही हो। भला कहो, रोने से क्या लाभ?।।4।।

(वह कहती है) जिसके चले जाने पर मैं विरह की आग से धूल की ढेर न बन गयी, निष्ठुर मन से उसके लिए सन्देश भेजने से क्या!।।5।।

जिसके प्रवास करने पर मैंने स्वयं प्रवास नहीं किया और जिसके विरह में मैं मर न गयी, हे पथिक! उस प्रिय के लिए सन्देश देती हुई मैं लज्जा का अनुभव करती हूँ।।6।।

हे पथिक! लजाकर यदि मैं चुप बैठ जाऊँ तो मैं हृदय की धारण नहीं कर सकती। (अतः) एक गाथा (वहाँ जाकर) पढ़ दीजिये और उन्हें प्रसन्न कर मना लीजिए (अनुकूल कर दीजिये)।।7।।

तुम्हारे विरह के प्रहार से चूर—चूर होकर जो ये अंग विघटित नहीं होते, हे नाथ! वे आजकल (आप से) मिलने के उत्साह में टँगे हुए हैं।।8।।

प्राकृत भाषा (मध्यकालीन आर्य भाषा)

प्राचीन भारतीय आर्य भाषा काल में, जनभाषा पर आधारित, वैदिक एवं लौकिक संस्कृत भाषा के दो रूप, साहित्य में प्रयुक्त हुए। दूसरे रूप लौकिक संस्कृत को पाणिनि ने अपने व्याकरण में जकड़ कर उसे सदा सर्वदा के लिए एक रूप दे दिया, किन्तु जनभाषा भला इस बन्धन को कहां मानती? वह अबाधगति से परिवर्तित होती रही, बढ़ती रहीं। इस जनभाषा के मध्यकालीन रूप को ही 'मध्यकालीन आर्यभाषा' की संज्ञा दी गई है। इसका काल मोटे रूप से 500 ई० पू० से 1000 ई० तक का, अर्थात् हजार वर्षों का है। कुछ लोग इसे 600 ई० पू० से 1100 या 1200 तक भी मानते हैं, यद्यपि सभी दृष्टियों से विचार करने पर यह बहुत समीचीन नहीं लगता।

मध्यकालीन आर्य भाषा को प्राकृत भी कहा गया है। प्राकृत शब्द के सम्बन्ध में दो मत हैं:

(1) कुछ लोग इसकी व्युत्पत्ति 'प्राक् कृत' अर्थात् 'पहले की बनी हुई' या 'पहले की हुई' मानते हैं। दूसरे शब्दों में प्राकृत 'नैसर्गिक' 'प्रकृत' या अकृत्रिम भाषा है और इसके विपरीत संस्कृत कृत्रिम या संस्कार की हुई भाषा है। नेमिसाधु ने 'काव्यालंकार' की टीका में लिखा है:। **'प्राकृतेति, सकलजगज्जन्तूनां व्याकरणादिमिरनाहतसंस्कारः सहजो वचनव्यापारः प्रकृतिः प्रकृति तत्र भवः सेव व प्राकृतम्'**। इस रूप में प्राकृत पुरानी भाषा है, और संस्कृत उसका संस्कार करके बनाई हुई बाद की भाषा। ग्रियर्सन ने इसी को प्राइमरी प्राकृत कहा है। इसका अर्थ यह है कि इस अर्थ में प्राकृत शब्द का प्रयोग उस जनभाषा के लिए है, जो वैदिक एवं संस्कृत काल में जनभाषा थीं और जिसका कुछ परिनिष्ठित एवं पंडितों द्वारा मान्य रूप वैदिक है, एवं परवर्ती काल में जिसका सुसंस्कृत साहित्यिक रूप 'संस्कृत' है। अर्थात् वह वैदिक की भी जननी है, और उसी का कुछ परवर्ती रूप संस्कृत की जननी है। वाक्यतिराज ने 'गउडबहो' में कहा है—

जैसे जल सागर में प्रवेश करता है और सागर से ही निकलता है, उसी प्रकार सभी भाषाएँ प्राकृत में ही प्रवेश करती हैं, और प्राकृत से ही निकली हैं।

(2) दूसरे लोग प्राकृत की उत्पत्ति और ढंग से करते हैं, जैसे—

(1) प्रकृति: संस्कृतं तत्र भवं प्राकृतमुच्यते (प्रकृति या मूल संस्कृत है, उससे जन्मी भाषा को प्राकृत कहते हैं— मार्कण्डेय ।

(2) प्रकृते, संस्कृतायास्तु विकृतिः प्राकृती मता (प्राकृत संस्कृत की विकृति प्राकृत है)—लक्ष्मीधर ।

(3) प्रकृतिः संस्कृतम् । तत्र भवं तत आगर्त्तं वा प्राकृतम् (प्रकृति या मूल संस्कृत है, और संस्कृत से जो आई है, प्राकृत है)—हेमचन्द्र ।

(4) प्रकृतेः संस्कृतात् आगतं प्राकृतम् (प्राकृत संस्कृत से निकली प्राकृत है)—सिंहदेवमणि ।

(5) संस्कृत रुपायाः प्रकृतेः उत्पन्नत्वात् (प्राकृत से उत्पन्न प्राकृत) प्रेमचन्द्र तर्कवागीश ।

(3) प्राकृतस्य सर्वमेव संस्कृत योनिः (प्राकृत की जननी संस्कृत है ।)—वासुदेव ।

इनका आशय यह है कि प्राकृत संस्कृत से ही उत्पन्न है। यहाँ हम देखते हैं कि दोनों मत एक दूसरे के विरोधी हैं। एक प्राकृत से संस्कृत का जन्म मानता है, तो दूसरा संस्कृत से प्राकृत का जन्म। वस्तुतः, अपने-अपने स्थान पर दोनों ही मत ठीक है। यदि हम उस जनभाषा को प्राकृत कहते हैं, जिसका परिनिष्ठित साहित्यिक रूप संस्कृत है, दूसरे शब्दों में जिससे संस्कृत उत्पन्न है, तो पहला मत ठीक है, अर्थात् प्राकृत संस्कृत की जननी है, किन्तु यदि हम संस्कृत कालीन जनभाषा को भी संस्कृत ही कहें— जो मूलतः वही था, केवल संस्कृत साहित्य भाषा थी, और वह जनभाषा, तो दूसरा मत सही है, क्योंकि 5000 ई० पू० से 1000 ई० तक बोली जाने वाली प्राकृत भाषा उसी का विकसित रूप है, अर्थात् उसी से निकली है। अब प्रायः इसी भाषा को प्राकृत कहते हैं, अतः इसे अर्थात् प्राकृत को हम संस्कृत से उत्पन्न मान सकते हैं। हाँ, यह बात ध्यान में रखने की है, कि यह प्राकृत भाषा वैदिक या लौकिक संस्कृत से उद्भूत नहीं है, अपितु तत्कालीन जनभाषा से उद्भूत है या उसका विकसित रूप है।

इन 1500 वर्षों की प्राकृत भाषा को तीन कालों में विभाजित किया गया है—

1. प्रथम प्राकृत (1500 ई० पू० से 1 ई० तक)
2. द्वितीय प्राकृत (1 ई० 500 ई० तक)
3. तृतीय प्राकृत (500 ई० 1000 ई० तक)

प्रथम प्राकृत— इसमें पालि तथा अभिलेखी प्राकृत आती है।

पालि— पालि बौद्ध धर्म (विशेषतः दक्षिणी बौद्धों) की भाषा है। इसे 'मागधी' या 'देश भाषा' भी कहा गया है। मोटे रूप से इसका काल 5 वीं सदी ई० पू० से पहली सदी तक है। यों कुछ लोगों ने इसका काल छठी सदी ई० पू० से दूसरी सदी ई० पू० तक भी माना है। कुछ इसका आरम्भ दूसरी सदी ई० पू० से भी मानते हैं। **'पालि' नाम**— 'पालि' शब्द की व्युत्पत्ति को लेकर विद्वानों में बहुत मतभेद है। पालि शब्द के पुराने। 'भाषा' के अर्थ में नहीं मिलते। इसका प्राचीनतम प्रयोग चौथी सदी में लंका में लिखित ग्रन्थ 'दीपवंस' से हुआ है। वहां इसका अर्थ 'बुद्धवचन' है। बाद में प्रसिद्ध आचार्य बुद्धघोष ने भी इसका प्रयोग लगभग इसी अर्थ में किया है। तब से काफी बाद तक पालि शब्द का प्रयोग पालि साहित्य में हुआ है, किन्तु कभी भी भाषा के अर्थ से नहीं। सिंहल के लोग इसे अब भी मागधी कहते हैं। भाषा के अर्थ में 'पालि' का प्रयोग अत्याधुनिक है और यूरोप के लोगों द्वारा हुआ है। शुरु में अशोक की शिलालेखी प्राकृतों के लिए भी इसका प्रयोग हुआ था, पर बाद में भ्रामक समझकर छोड़ दिया गया। पालि की व्युत्पत्ति प्रमुख: दो प्रकार की है। एक तो वे हैं, जिनमें 'पालि' के प्राचीनतम प्राप्त अर्थ का ध्यान रखा गया है, और दूसरी वे हैं, जिनमें अन्य आधार लिए गये हैं। यहाँ संक्षेप में कुछ प्रमुख मतों का उल्लेख किया जा रहा है।

(1) श्री विधु शेखर भट्टाचार्य के अनुसार 'पालि' का सम्बन्ध संस्कृत 'पक्ति' (पन्ति—पत्ति—पद्धि—पल्लि— पालि) से है। शुरु में बुद्ध की पक्तियों के लिए इसका प्रयोग हुआ और बाद में उसी से विकसित होकर भाषा के अर्थ में। किन्तु 'पक्ति' से 'पालि' हो जाना तत्कालीन ध्वनि परिवर्तन के नियमों के अनुकूल नहीं है।

(2) एक मत के अनुसार वैदिक और संस्कृत आदि की तुलना में यह 'पल्लि' या 'गाँव' की भाषा थी। 'पालि' शब्द 'पाल्लि' का ही विकास है, अर्थात् इसका अर्थ है 'गाँव की भाषा'। 'पल्लि' की 'पालि' बन तो सकता है, किन्तु यह प्रवृत्ति पालि काल के बहुत बाद में मिलती है।

(3) एक मत के अनुसार यह सबसे पुरानी प्राकृत है (भण्डारकार तथा वाकरनागल मानते हैं) इसीलिए शायद इसे 'प्राकृत' नाम दिया गया और 'पालि' शब्द 'प्राकृत' (पाकट—पाअड—पाअल—पालि)

(4) कोसाम्बी नामक बौद्ध विद्वान् के अनुसार इसका सम्बन्ध 'पालू' अर्थात् 'रक्षा करना' से है, इसने बुद्ध के उपदेशों को सुरक्षित रखा है इसीलिए यह नाम पड़ा है।

(5) 'पा पालेति रक्खतीति' रूप में भी कुछ लोगो ने 'पा' में 'लि' (णिच्) प्रत्यय लगाकर इसकी व्युत्पत्ति दी है। 'अत्थान पाति रक्खतीति तस्मात् पालि' किन्तु यह भी कल्पना की दौड़ मात्र है।

(6) एक अन्य मत से 'प्रालेय' या 'प्रालयक' (पड़ोसी) से पालि का सम्बन्ध है।

(7) भिक्षु सिद्धार्थ सं० 'पाठ' से (बुद्ध पाठ या बुद्ध बचन) इसे (पाठ-पालि -पाळि, पालि में संस्कृत 'उ' का 'ळ' हो जाता है। निकला मानते हैं।

(8) कुछ लोग 'पालि' को पंक्ति अर्थ का बोधक एक संस्कृत शब्द मानते हैं। इनके अनुसार यही शब्द पहले बुद्ध की पंक्तियों के लिए फिर उनके उपदेशों के लिए फिर पुस्तक के लिए और फिर उस भाषा के लिए प्रयुक्त होने लगा।

(9) राजवाड़े के अनुसार कुछ लोग पालि का सम्बन्ध संस्कृत प्रकट (पाअड़-पाअल-पालि) से भी जोड़ने के पक्ष में हैं।

(10) डॉ० मैक्सवेलेसर ने 'पालि' को 'पाटलि' (पाटलीपुत्र की भाषा) से व्युत्पन्न माना है। किन्तु, पालि वहां की भाषा नहीं थीं।

(11) सबसे प्रामाणिक व्युत्पत्ति भिक्षु जगदीश द्वारा दी गयी है। प्रायः बहुत से भारतीय विद्वान् इससे सहमत हैं। इनके अनुसार 'पालि' का सम्बन्ध 'परियाय' (सं० पर्याय) से है। 'धम्म-परियाय' का प्रयोग प्राचीन बौद्ध साहित्य में बुद्ध के उपदेश के लिए मिलता है। इसकी विकास परम्परा परियाय-पलियाय-पालियाय-पालि है।

'पालि भाषा का प्रदेश- यह प्रश्न भी कम विवादास्पद नहीं है कि पालि मूलतः किस प्रदेश की भाषा थी। इन प्रश्न पर प्रायः दो दर्जन विद्वानों ने विचार दिये हैं, जिनमें कुछ प्रमुख मत निम्नांकित है-

(1) श्रीलंका के बौद्धों की यह धारणा है कि यह मगध की बोली थी। इसीलिए वे लोग 'पालि' को मागधी भी कहते हैं। पालि ग्रन्थों में मूल 'भाषा' के लिए 'मागधी' शब्द का प्रयोग भी इसी ओर संकेत करता है। **सा मागधी मूल भासा नरा मायादिकप्पिका।** इसीलिए डॉ० श्यामसुन्दरदास तथा चाइल्डर्स आदि कई अन्य विद्वान् इसे मगध की भाषा मानते हैं। किन्तु भाषा की विवेचना करने पर यह बात अशुद्ध ठहरती है। उदाहरणार्थ यदि ध्वनियों का विचार किया जाय तो मागधी में प्राचीन श, ष, स् तीनों के स्थानों पर 'श्' ध्वनि मिलती है, जब कि

पालि में 'स'। इसी प्रकार मागधी में 'र' के लिए भी 'ल' ही ध्वनि आती है, जबकि पालि में र और ल दोनों हैं। व्याकरण की दृष्टि से भी इसका मागधी से साम्य नहीं है। उदाहरणार्थ पालि में अकारांत शब्दों (पुल्लिगः, नपुंसक) का कर्ता एकवचन में ओकारांत (धम्मो) होता है, किन्तु मागधी में एकारांत (धम्मे)। पालि में ए वाले रूप हैं, किन्तु बहुत कम। ऐसी स्थिति में पालि को मगध की भाषा नहीं मान सकते।

(1) गाइगर, विंडिश इसे मागधी का ही एक रूप मानते हैं, यद्यपि इसे पूरे देश की भाषा होने के कारण इसमें अन्य बोलियों के तत्व भी स्वीकार करते हैं।

(2) वेस्टगार्ड, ई० कुहन, फ्रेंक तथा स्टैनकोनो पालि को उज्जयिनी या विंध्यप्रदेश की बोली पर आधारित मानते हैं।

(3) ग्रियर्सन ने इसे मागधी माना था, यद्यपि इस पर पैशाची का भी प्रभाव स्वीकार किया था।

(4) ओल्डनबर्ग ने खारवेल के खंडगिरि (कलिंग) शिलालेख से पाली की समानता देख पालि को कलिंग की भाषा कहा था

(5) रीज डेविड्ज ने इसे कोसल की बोली कहा है।

(6) ल्यूडर्ज पालि को पुरानी अर्धमागधी से संबद्ध मानते थे।

(7) उपर्युक्त मतों से एक बात स्पष्ट है कि पालि में विभिन्न प्रदेशों की बोलियों के तत्व हैं इसी कारण विभिन्न लोगों ने इसे विभिन्न स्थानों से संबद्ध किया है। वस्तुतः अपने मूल में पालि मध्यप्रदेश की भाषा है। ऊपर कथित स्, र, लः ओ का उसमें मिलाना भी इसी का प्रमाण है। यों उस समय वह पूरे भारत में एक अंतर्प्रान्तीय भाषा जैसी थी, इसी कारण उसमें अनेक प्रादेशिक बोलियों विशेषतः बुद्ध की अपनी भाषा होने से मागधी के भी कुछ तत्व मिल गए थे। इस प्रकार अपने मूल रूप में पालि को शौरसेनी प्राकृत का पूर्व रूप मान सकते हैं। पालि कदाचित दक्षिण-पश्चिम में पनपी। अशोकी प्राकृत की बोली से इसका कुछ साम्य है। प्रसंग में यह भी उल्लेख है कि पालि संस्कृत से काफ़ी प्रभावित होती रही है।

पालि साहित्य का सम्बन्ध प्रमुखतः भगवान् बुद्ध से है। इसमें उन्हीं से संबद्ध काव्य, कथाओं या अन्य साहित्य-विधाओं की रचना प्रमुखतः हुई। कुछ विशेष संस्कृत या दर्शन की पुस्तकें भी पालि में लिखीं गयी हैं। इसी प्रकार कोश, छन्द-शास्त्र या व्याकरण की भी कुछ

पुस्तकें लिखी गई हैं। परम्परागत रूप से पालि साहित्य को पिटक और अनुपिटक दो वर्गों में बाँटते हैं, जिनमें जातक (जिसे ग्रन्थ न कहकर ग्रन्थ संग्रह कहना उचित है।), धम्मपद मिलिन्दपञ्चो, बुद्धघोष की अट्टकथा तथा महावंश आदि प्रमुख हैं। पालि साहित्य का रचना काल 473 ई० पू० से लेकर आधुनिक काल तक लगभग ढाई हजार वर्षों में फैला हुआ है, और इसने एशिया के एक अरब से ऊपर लोगों को प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः कई दृष्टियों से प्रभावित किया है। पालि भाषा का प्रभाव भारत की भाषाओं के अतिरिक्त श्रीलंका बरमा और स्याम की भाषा पर विशेष, तथा तिब्बत, चीन और जापान आदि की भाषाओं पर कुछ-कुछ पड़ा है।

ध्वनियाँ— पालि के प्रसिद्ध वैयाकरण कच्चायन के अनुसार पालि में 41 ध्वनियाँ थीं— 'अक्खरापादयो एकचतालीस'। दूसरे प्रसिद्ध वैयाकरण मोग्गलान के अनुसार 43 ध्वनियाँ थीं— 'अआदयो तितालिस वण्णा'। किन्तु वस्तुतः पालि में कुल 47 ध्वनियाँ हैं— अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऍ, ओ, ए, ओ, कवर्ग, टवर्ग, पवर्ग, य्, र्, ल्, ल्ह व, व्, व, स्, ह निग्गहीत।

(1) अर्थात् स्वरों में ह्रस्व ऍ, ओ, इन दो विकास हो गया था। ऐसा बलाघात के कारण हुआ। शब्द में संयुक्त या द्वित्व व्यंजन होने पर बलाघात उस पर चला जाता था, अतः पूर्ववर्ती स्वर ह्रस्व हो जात था। संः मैत्री पा० मीती, सं० ओष्ठ पा० ओ पेहँ।

(2) ऋ, ॠ, लृ पूर्णतः समाप्त हो गयी। ऋ का पालि में प्रायः अ (हृदय— हृदय, कृषि—कसि), इ (ऋण—इण), अथवा उ (पृथिवी—पृथवी) हो गया। कभी—कभी रु (वृक्ष—रूक्ख) या र आदि अन्य ध्वनियाँ भी हो गई। लृ का उ (क्लृप्त—कृत्त) हो गया।

(3) ऐ, औ भी नहीं रहे। ऐ कहीं तो ए (ऐरावण—एरावण) हो गयी और कहीं एं (मैत्री—मैत्ती)। इसी प्रकार औ का ओ (गौतम—गोतम) अथवा ओ हो गया है। इस तरह कुल स्वर 10 थे।

(4) व्यंजनों में वैदिक की तरह ही, पालि में भी ल्, ल्ह ध्वनियाँ थीं। यह उल्लेख्य है कि लौकिक संस्कृत के लिखित रूप में ये दोनों नहीं थीं।

(5) विसर्ग, जिह्वामूललीय, उपध्मानीय भी नहीं थीं।

(6) वैदिक तथा संस्कृत में श्, ष्, स् तीन थे। पालि में तीनों के स्थान में स् हो गया। वैदिक शवशान, (श्मशान) पा० सुसान, शय्या, निषण्ण—निसिन्न, तृष्णा—तसिण, साधु साहू।

(7) अनुस्वार पालि में स्वतंत्र ध्वनि है, जिसे पालि वैयाकरणों ने निग्गहीत नाम से अभिहित किया हैं।

तुलनात्मक दृष्टि से यह उल्लेख्य है कि वैदिक में कुल ध्वनियाँ 55, लौकिक संस्कृत में 52, किन्तु पालि में 47 थीं।

ध्वनि-प्रक्रिया को दृष्टि से पालि में निम्नलिखित परिवर्तन उल्लेख्य हैं।

(1) **घोषीकरण**— स्वर मध्यग अघोष व्यंजन के घोष होने की कुछ प्रवृत्ति है। माकन्दिय—मागन्दिय, उताहो – उदाहु। प् ब् होकर नहीं रुकता अपितु व हो जाता है। कपित्य – कवित्य। ट्, ड् होकर ळ हो जाता है। स्फटिक – पळिक।

(2) **अधोषीकरण**— यह प्रवृत्ति अधिक नहीं है। इसका कारण सम्भवतः पैशाची प्रभाव है। मृदग – मुतिंग, परिघ– परिख, अगुरु– अकलु, कुसीद– कुसीत, छगल–छकल।

(3) **महाप्राणीकरण**— सुकुमार– सुखुमाल, परशु–फरसु, कील– खील, पल– फल।

(4) **अल्प-प्राणीकरण**— भगिनी–बहिणी।

(5) **समीकरण**— यह प्रवृत्ति बहुत अधिक है। चत्वर– चच्चर, निम्न– निन्न, सर्व– सब्, मार्ग– मग्ग, धर्म– सम्म, कर्म– कम्म, जीर्ण–जिण्ण।

(6) स्वर मध्यम संस्कृत ड्, ढ्, का ळ्, ळ्हः आपीड–आवेळ, मीढ– मीळ्ह।

(7) र् ल् का आपसी परिवर्तन र – ल, परि – पलि, तरुण – तलुण, ल – र, किल– किर। र् का ल् पूर्वी प्रभाव है तो ल् का र् पश्चिमी।

(8) **महाप्राण** के ह हो जाने की भी प्रवृत्ति है: भवति होति, लघु लहु, रुधिर रुहिर। यह प्रवृत्ति घोष महाप्राणों में ही है।

मात्रा— पालि में विशेष नियम मिलता है। कुछ थोड़े अपवादों को छोड़कर इस भाषा में अक्षर एक या दो मात्राओं से अधिक का नहीं होता। इस बात को कुछ विस्तार में यो कह सकते हैं कि अक्षर या तो एक मात्रा का (ह्रस्व स्वरांत) होगा, या दो मात्रा का (दीर्घ स्वरांत, अथवा ह्रस्व स्वर–युक्त व्यंजनांत)। इस मात्रा–नियम ने पालि–ध्वनि प्रक्रिया में एक विशेषता ला दी है। जहाँ भी संस्कृत शब्दों में संयुक्त व्यंजन या द्वित व्यंजन के पूर्व दीर्घ स्वर है, पालि में या तो (1) संयुक्त या द्वित, (प्रायः द्वित) व्यंजन रहता (या हो जाता) है तथा उसके पूर्व का स्वर ह्रस्व (कार्य – कय, जीर्ण – जिण्ण, मार्ग – मग्ग) हो जाता है, या फिर (2) व्यंजन संयुक्त

या द्वित न होकर एक या सामान्य हो जाता है और स्वर दीर्घः दीर्घ – दीघ, लाक्षा –लाखा। ए, ऐ, ओ, औ के ह्रस्व रूप प्रायः ऐँ, औँ मिलते हैंः श्लेषन् – सेम्ह, मैत्री – मेंती ओष्ठ –औँट्ट।

स्वराघत— पालि में स्वराघात की स्थिति विवादास्पद है। टर्नर के अनुसार पालि में वैदिकी की भाँति ही संगीतात्मक एवं बलात्मक दोनो स्वराघात था। ग्रियर्सन पालि में केवल बलात्मक स्वराघात मानते हैं। जूल ब्लाक को पालि में किसी भी स्वराघात के होने के बारे में संदेह है। कुछ लोग पालि में केवल संगीतात्मक स्वराघात मानते हैं।

व्याकरण— पालि भाषा, व्याकरणिक दृष्टि से वैदिक की भाँति ही स्वच्छंद एवं विविध रूपोंवाली है। किन्तु साथ ही वैदिक या संस्कृत की तुलना में उसमें पर्याप्त सरलीकरण भी हुआ है। यह सरलीकरण, उच्चारण में, समीकरण आदि के रूप में तो हुआ ही है, साथ ही, सादृश्य के आधार पर विकास के कारण व्याकरण के क्षेत्र में भी हुआ है।

शब्द— इस दृष्टि से कोई विशेष उल्लेखनीय बात नहीं है। तद्भव शब्द अधिक हैं। तत्सम उससे बहुत कम। संस्कृत में जिन द्रविण, आस्ट्रिक आदि शब्दों का उल्लेख हुआ है, उनमें अनेक इसमें भी हैं। परवर्ती साहित्य में कुछ विदेशी शब्द भी हैं।

पालि में विभिन्न तत्त्व— पालि में अनेक व्याकरणिक एवं ध्वन्यात्मक तत्त्व भी मिलते हैं।

बोलियाँ एवं भाषा रूप— पालि काल में आर्य भाषी भारत में वे ही चार बोलियाँ थीं, जिनका उल्लेख लौकिक संस्कृत के प्रसंग में किया जा चुका है पश्चिमोत्तरी, दक्षिणी, मध्यवर्ती तथा पूर्वी। हाँ संस्कृत काल की तुलना में उनके अन्तर कुछ और उभर आये थे।

इसी प्रसंग में पालि भाषा में विकास का भी उल्लेख किया जा सकता है। पालि साहित्य देखने से पता चलता है कि आद्यंत पालि का एक रूप नहीं रहा है। उसकी कम से कम चार सीढ़ियों का अनुमान लगता है। **भाषा की पहली सीढ़ी** त्रिपिटक (सुत्त, विनय, अभिधम्म) की गाथाओं में मिलती है। यह पालि का प्राचीनतम रूप है। इसमें रूपों का बाहुल्य है। यह भाषा वैदिक संस्कृत के बहुत निकट है। भाषा का इससे कुछ विकसित रूप **त्रिपिटक के गद्य भाग** में मिलता है। यहाँ रूप कम है और भाषा में अपेक्षाकृत एकरूपता है। इसमें कुद ऐसे रूप भी मिलते हैं, जो प्रथम में नहीं हैं, साथ ही प्रथम के कई पुराने रूपों को इसमें स्थान नहीं मिला है। **पालि के विकास की तीसरी सीढ़ी** और बाद के गद्य जैसे 'मिलिन्दपञ्च' था

बुद्धघोष की 'अट्टकथा' आदि में मिलती हैं। चौथी सीढ़ी उत्तरकालीन काव्य-ग्रन्थों-जैसे दीपवंस, महावंस आदि- की भाषा में मिलती है। इस रूप पर संस्कृत का पर्याप्त प्रभाव है।

अभिलेखी प्राकृत

प्रथम प्राकृत के अन्तर्गत पालि के आतिरिक्त अभिलेखी प्राकृत भी आती है। इसके अधिकांश लेख शिला पर हैं, अतः इसकी एक संज्ञा शिलालेख प्राकृत भी है। इसकी सामग्री है-

1. अशोकी अभिलेख,
2. अशोकेतर अभिलेख।

अशोकी अभिलेख

प्रसिद्ध भारतीय सम्राट अशोक ने भारत के विभिन्न क्षेत्रों में, जनता के लिए, तत्कालीन बोलचाल की भाषा में, अपनी धार्मिक एवं शासनिक आज्ञाएं तथा सूचनाएं आदि अंकित कराई थीं। इन्हीं अभिलेखों की भाषा को अशोकी प्राकृत या शिलालेखी प्राकृत कहते हैं। इनमें कुछ अभिलेख लाटों पर हैं, इसी कारण इसे लाटबोली या लाट प्राकृत भी कहा गया है। कुछ अभिलेख गुफाओं में हैं, इसी आधार पर पिशेल ने इसे प्राकृतया लेवा बोली कहा है।

ये अभिलेख तीन प्रकार के हैं। कुछ तो चट्टानों पर हैं, कुछ लाटों या स्तम्भों पर, और कुछ गुफा-दीवारों पर। शाहबाजगढी और मनसेहरा के लेख खरोष्ठी लिपि में हैं और शेष ब्राह्मी में इन्हें निम्नांकित 8 वर्गों में विभाजित किया जा सकता है:

(1) लघु शिलालेख- 258-252 ई० पू० के माने जाते हैं। ये मैसूर राज्य के सिद्धपुर, जतिंग रामेश्वर, ब्रह्मगिरि, जबलपुर जिले के रुपना था, शाहबाद जिले के सहसराम तथा निजाम राज्य के मास्की, ईडागुडी में पाये गए हैं। इनका सम्बन्ध अशोक के वैयक्तिक जीवन एवं धर्मनिष्ठा से है।

(2) भबू शिलालेख- यह 257 ई० पू० का है और जयपुर राज्य में वैराट पर्वत की एक चोटी पर है। यह बौद्ध धर्म-विषयक है।

(3) चतुर्दश बृहद् शिलालेख- इनका काल 256 ई० पू० के आस पास है। ये शाहबाजगढी (पेशावर के पास), मनसेहरा (ऐक्टाबाद के पास), सोयारा (थाना), कालसी

(देहरादून), धौली (पुरी), जौगढ़ (गंजाम), गिरनार (जूनागढ़ के पास), तथा ड्डागुडी (निजाम राज्य) आदि में मिले हैं। इनका विषय प्रमुखतः नैतिक नियम है।

(4) **कलिंग शिलालेख**— समय 256 ई० पू०। ये भी धौली और जौगढ़ में हैं इनका विषय कलिंग का शासन है।

(5) **बराबर गुफा अभिलेख**— समय 257–250 ई० पू० के बीच। गया के समीप बराबर नामक पहाड़ी में ये गुफालेख हैं। इनमें धर्म—विषयक बातें हैं।

(6) **नेपाल तराई के स्तम्भ लेख**— ये निगलीवा तथा रुक्मिनदेई में मिले हैं। अशोक की तीर्थयात्रा इनका विषय है। काल है 249 ई० पू०।

(7) **सप्त स्तम्भ लेख**— ये 243 ई० पू० के लगभग के हैं। इनका विषय है। अहिंसा आदि धर्मनीति। ये टोपरा (दिल्ली), मेरठ, कौशांबी (इलाहाबाद) आदि में मिले हैं।

(8) **लघु—स्तम्भ लेख**— ये साँची, सारनाथ, प्रयाग में मिले हैं। इनमें अधार्मिक प्रवृत्तियों का विरोध है।

इन शिलालेखों का इतिहास की दृष्टि से तो महत्त्व है ही, भाषा विज्ञान की दृष्टि से भी कम महत्त्व नहीं है। इनमें इस बात का पता चल जाता है कि तीसरी सदी में ई० पू० के मध्य के आसपास प्राकृत भाषा का विभिन्न क्षेत्रों में क्या रूप था। एक ही लेख के विभिन्न स्थानों में प्राप्त रूपान्तरों से तत्कालीन प्राकृत के स्थानीय रूपों का तुलनात्मक अध्ययन करने में बड़ी सहायता मिलती है।

इन लेखों का तुलनात्मक अध्ययन कई विद्वानों ने किया है, किन्तु परिणाम के संबंध में फ्रेंक, सेनार्ट, गुणे आदि विद्वानों में मतभेद है। कुछ के अनुसार इनसे तत्कालीन प्राकृत की दो, कुछ के अनुसार तीन, कुछ के अनुसार चार और कुछ के अनुसार पाँच बोलियों का पता चलता है। पीछे संस्कृत काल में 4 बोलियों का संकेत किया जा चुका है, ऐसी स्थिति में इस काल में 5 बोलियों का अपने प्रारम्भिक रूप में विकसित हो जाना असम्भव नहीं है। यों इनमें कम से कम 4 बोलियों के रूप तो हैं ही पश्चिमोत्तरी, दक्षिणी पश्चिमी, मध्यपूर्वी, पूर्वी।

अशोकेतर अभिलेख

ये ई० पू० की अन्तिम तीन सदियों के छोटे और खंडित अभिलेख हैं। इनमें कुछ शिला पर हैं, कुछ स्तम्भ पर तथा कुछ ताम्रपत्र आदि पर। इनमें पश्चिमोत्तरी भारत का शिकोट

अभिलेख, ग्वालियर का बेसनगर स्तम्भ लेख, मध्य भारत का जोगीमारा गुफालेख, बिहार का सोहगौरा ताम्रलेख तथा उड़ीसा के हाथीगुम्फा गुफालेख आदि हैं। प्रथम की लिपि खरोष्ठी है, शेष की बाह्मी। इनमें भी कुछ अपवादों को छोड़कर भाषा के प्रायः वे ही रूप मिलते हैं, जो कि अशोकी अभिलेखों में। उपर्युक्त अभिलेखों में बेसनगर का अभिलेख हिलिओदोरस नामक यूनानी दूत का है, तथा हाथीगुम्फा वाला जैनधर्मावलम्बी कलिंगराज खारवेल का। इन दोनों की भाषा कुछ-कुछ पालि के समीप है, तथा संस्कृत से प्रभावित है। इनका काल दूसरी सदी ई० है। इन दोनों से इस बात का संकेत मिलता है। कि बौद्ध, जैन धर्म ने लोक भाषा की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया था, किन्तु इस समय तक आते-आते फिर संस्कृत का महत्व बढ़ने लगा था।

इस प्रसंग में श्रीलंका में प्राप्त कुछ अभिलेखों (समय सदी ई० पू० से तीसरी सदी ई० तक) का उल्लेख भी किया जा सकता है। इनमें प्रायः आगे वर्णित मध्यपूर्वी बोली की ही विशेषताएं मिलती हैं। आगे तत्कालीन प्राकृत के चारों रूपों का संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है।

पश्चिमोत्तरी— इसमें प्रमुखतः शाहवाजगढी और मनसेहरा के अभिलेख आते हैं। यह उल्लेख है कि ये लिख खरोष्ठी लिपि में है। स्वरदीर्घता और व्यंजन द्वित्त इनमें अंकित नहीं है। अन्य सभी बोलियों के तुलनात्मक अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि शाहबाजगढी वाली अभिलेख पश्चिमोत्तरी बोली का ठीक प्रतिनिधित्व करता है, किन्तु मनसेहरा वाले पर मध्यपूर्वी एवं पूर्वी बोली का प्रभाव उदाहरणार्थ प्रथमा एकवचन में शाहबाजगढी में ओ है, किन्तु मनसेहरा में ए। प्राकृतों में होने वाले सामान्य सभी परिवर्तन इसमें प्रायः मिलते हैं।

दक्षिणी—पश्चिमी

शिलालेखी प्राकृत की इस बोली का स्वरूप प्रमुखतः गिरनार (गुजरात) के अभिलेख में है। यह भाषा अपेक्षाकृत अधिक पुरानी है।

मध्यपूर्वी

इस बोली में देहरादून के पास का कालसी शिलालेख, टोपरा (दिल्ली) का स्तम्भलेख तथा कुछ अपवादों को छोड़कर जोगीमार एवं नागर्जुनी गुफा लेख आदि आते हैं।

पूर्वी

इसमें उड़ीसा के धौली, जौगढ़ शिलालेख, सोहगौरा ताम्रलेख हाथीगुंफा के लेख आदि आते हैं। यह मध्यपूर्वी के काफी समान है।

अभिलेखी प्राकृत (1 ई० तक की), वस्तुतः कुछ अपवादों को छोड़कर, पालि एवं परवर्ती प्राकृत के बीच में आती है। परवर्ती प्राकृत में आनेवाले विकासों के बीज यहाँ हैं। पूर्ववर्ती भाषा की तुलना में सरलीकरण प्रायः सभी क्षेत्रों में दिखाई देता है। प्रातिपादिक प्रायः स्वरांत हैं। द्विवचन नहीं हैं। लिंग तीन हैं। आत्मनेपद कुछ क्षेत्रीय अपवादों को छोड़कर समाप्त प्रायः हैं।

अश्वघोष के नाटकों की प्राकृत

अश्वघोष का रचना काल 100 ई० के आस पास माना जाता है। उनके दो संस्कृत नाटकों की खंडित प्रतियाँ मध्य एशिया में मिली हैं, जिन्हें जर्मन विद्वान् ल्यूडर्स ने संपादित किया है।

अश्वघोष की ये प्राकृतें अभिलेखी प्राकृत या अशोकी प्राकृत से भिन्न हैं। साहित्यिक प्रकृति होने के कारण संस्कृत का प्रभाव इन पर स्वाभाविक है।

धम्मपद की प्राकृत

1812 में फ्रांसीसी पर्यटक दुत्रुइलदरों को खोतान में खरोष्ठी लिपि में कुछ लेख मिले। ओल्डेनवर्ग, सेनार्ट तथा कुछ भारतीय एवं अन्य अभारतीय विद्वानों के प्रयास के बाद में इन लेखों का उद्धार हुआ और यह प्राकृत में लिखा गया 'धम्मपद' निकला। खरोष्ठी लिपि में होने के कारण इसे 'खरोष्ठी धम्मपद' भी कहते हैं। इसकी रचना 200 ई० के लगभग की मानी गई है। इसकी भाषा भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश की है। यह निय प्राकृत की तुलना में पुरानी है, साथ ही संस्कृत से प्रभावित भी है। 'धम्मपद की प्राकृत' तथा 'निय प्राकृत' खरोष्ठी लिपि में हैं, अतः इन दोनों में दीर्घ स्वर एवं द्वित्त व्यंजन लिखे नहीं गए हैं। ऐसी स्थिति में यह कहना कठिन है कि ये हैं या नहीं।

निय प्राकृत

ऑरेल स्टेन को 1900 से 1914 के बीच चीनी तुर्किस्तान के 'निय' नामक प्रदेश में तथा आसपास कई लेख मिले, जो खरोष्ठी लिपि में थे। 1937 में टी- बरो ने इनकी भाषा का अध्ययन करके इन्हें प्राकृत में लिखा बताया। इसकी सामग्री प्रमुखतः 'निय' प्रदेश में मिलने के कारण इन लेखों की भाषा का नाम 'निय प्राकृत' पड़ा है। यह शान-शान साम्राज्य की

राजभाषा थी। प्राकृत धम्मपद की भाँति ही निय प्राकृत का आधार भी भारत के पश्चिमोत्तरी प्रदेश की प्राकृत है। यह तीसरी सदी की भाषा है। अशोक परवर्ती पश्चिमोत्तरी खरोष्ठी शिलालेखों की भाषा से इसमें बहुत समानताएँ हैं। प्राकृत धम्मपद से भी समानताएँ हैं, किन्तु अपेक्षाकृत कम। आधुनिक दरद भाषाओं (विशेषतः तोरवारी) के भी यह पर्याप्त निकट है। निय प्राकृत पर शब्दों एवं क्षेत्रों में इरानी, मंगोलियन तथा क्रोरैनी प्रभाव पड़ा है।

मिश्रित बौद्ध संस्कृत

ऊपर पालि के सम्बन्ध में कहा जा चुका है कि वह दक्षिणी एवं दक्षिणी पश्चिमी हीनयानी बौद्धों के ग्रन्थों में अपेक्षाकृत अधिक प्रयुक्त हुई। उसी प्रकार उत्तरी भारत के महायानी बौद्धों के धर्म-ग्रन्थों में प्रायः या तो शुद्ध संस्कृत प्रयुक्त हुई या एक विशेष प्रकार की संस्कृत भाषा, जिसमें संस्कृत एवं प्राकृत दोनों का मिश्रण है। यहाँ तक कि प्रातिपादिक तो संस्कृत का है और विभक्ति प्राकृत की :पुष्पेहि। इसे बौद्ध संस्कृत या मिश्र संस्कृत भी कहा गया है। प्रसिद्ध विद्वान् एजर्टन ने इस भाषा पर विशेष रूप से कार्य किया है, तथा इसका कोश भी बनाया है।

मिश्रित बौद्ध संस्कृत में मिश्रण ऐसा है कि भाषा को एकरूपता इसके साहित्य में प्रायः नहीं है। हर ग्रन्थ की भाषा का स्वरूप अपने में अलग है। यही नहीं, ललितविस्तर या महावस्तु जैसे कई ग्रन्थों में गद्य की मिश्रित संस्कृत, उसी में प्रयुक्त पद्य की मिश्रित संस्कृत से प्रायः भिन्न है। इस भाषा में लिखे गए ग्रन्थों के पद्य भाग को गाथा कहते हैं, उसी आधार पर मैक्समूलर, वेबर तथा बर्नर आदि ने इसे गाथा संस्कृत कहा है। इस भाषा को लेकर थोड़ा विवाद भी रहा है। बर्नर इसे स्वाभाविक भाषा मानते हुए, संस्कृत एवं पालि के बीच की कड़ी मानते हैं, किन्तु भाषाशास्त्र की कसौटी पर उनका यह मत खरा नहीं उतरता। यह पालि के बाद की पहली सदी के आसपास की है, और कृत्रिम भाषा है। कीथ, कीलहार्न आदि का कहना है कि जिन ग्रन्थों की यह भाषा है, वे मूलतः किसी प्राकृत में थे। ये ग्रन्थ इनके संस्कृत अनुवाद हैं। मिश्रण का कारण यह है कि अनुवाद करने में मूल के कुछ रूपादि अननुदित रह गए हैं किन्तु ऐसे मत के लिए कोई ठोस आधार नहीं है। पूरी स्थिति पर विचार करने पर ऐसा लगाता है कि यह भाषा मूलतः प्राकृत है, और उस पर संस्कृत का बहुत अधिक प्रभाव

पड़ा गया है। इसकी कुछ बातें एक प्राकृत से मिलती हैं, तो कुछ दूसरी से, और कुछ अन्य किसी से भी नहीं।

मिश्रित बौद्ध संस्कृत के प्रमुख ग्रन्थ जातकमाला, लंकावतार, दिव्यावदान, अवदानशतक, ललितविस्तर तथा महावस्तु आदि हैं।

प्राकृत (1–500 ई०)

मध्यकालीन आर्यभाषा के प्रारम्भ में 'प्राकृत' शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार किया गया है। ऐसा अनुमान लगता है कि जन-भाषा का संस्कार करके जब उसे 'संस्कृत' संज्ञा से विभूषित किया गया तो, वह जन भाषा, जो उसकी तुलना में असंस्कृत थी, और पंडितों में प्रचलित इस भाषा के विरुद्ध, जो 'प्रकृत' या सामान्य लोगों में बोली जाती थी, सहज ही, 'प्राकृत' नाम की अधिकारिणी बन बैठी।

प्राकृत शब्द के दो अर्थ हैं। पहले अर्थ में यह 5वीं सदी ई० पू० से 1000 ई. तक की भाषा है, जिसमें प्रथम प्राकृत में 'पालि' और 'अभिलेखी प्राकृत' हैं, द्वितीय प्राकृत में भारत एवं भारत के बाहर प्रयुक्त विभिन्न धार्मिक, साहित्यिक और अन्य प्राकृतें हैं, तथा तृतीय प्राकृत में अपभ्रंश एवं तथाकथित अवहट्ट आती हैं।

द्वितीय प्राकृत के लिए भी 'प्राकृत' नाम का प्रयोग होता है। यहाँ, उपर्युक्त शीर्षक में 'प्राकृत' शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। द्वितीय प्राकृत में ऊपर की अश्वधोष के नाटकों की प्राकृत (पहली सदी), निय प्राकृत (तीसरी सदी), मिश्रित बौद्ध संस्कृत के प्राकृतांश (पहली सदी) एवं प्राकृत धम्मपद (दूसरी सदी) की प्राकृत, इन चार को बहुत लोगों ने प्रथम एवं द्वितीय प्राकृत के बीच में या सन्धिकालीन प्राकृत कहा है। वस्तुतः इन्हें भी द्वितीय में ही स्थान देना उचित है। हाँ यह अवश्य है कि आगे हम जिन प्राकृतों पर विचार करेंगे, उनकी तुलना में ये तथाकथित सन्धिकालीन प्राकृतें कुछ पुरानी हैं। इसीलिए यहाँ इनको पहले रखा गया है।

प्राकृतों के भेद— धर्म, साहित्य, भूगोल (पश्चिमोत्तरी, पूर्वी आदि), लिखने का आधार (शिलालेखी, धातुलेखी आदि) आदि कई आधारों पर प्राकृतों के भेद किए जा सकते हैं, और कुछ आधारों पर किए भी गए हैं।

धार्मिक दृष्टि से लोगों ने प्राकृत के पालि, अर्धमागधी, जैन महाराष्ट्री और जैन शौरसेनी प्रायः ये चार भेद माने हैं। साहित्य की दृष्टि से महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और पैशाची के नाम लिये गये हैं। नाटक में प्रयोग की दृष्टि से इनमें प्रथम तीन की गणना की गई है। प्राकृत के प्राचीन वैयाकरणों में वररुचि का उल्लेख है। इन्होंने महाराष्ट्री, पैशाची, मागधी और शौरसेनी, इन चार का उल्लेख किया है। हेमचन्द्र ने तीन और नाम दिये हैं। आर्ष, चूलिका पैशाची और अपभ्रंश। इनमें 'आर्ष' को ही अन्य लोगों ने 'अर्ध मागधी' कहा है। कुछ अन्य व्याकरणों तथा अन्य स्रोतों से कुछ और प्राकृतों के भी नाम मिलते हैं, जैसे बाहलीकी, शाकारी, ढक्की, शाबरी, चाण्डाली, आभीरिका, अवन्ती, दाक्षिणात्य, भूत भाषा तथा गोड़ी आदि। इनमें प्रथम पाँच मागधी के ही भौगोलिक या जातीय उपभेद थे। आभीरिका शौरसेनी की जातीय (आभीरो की) रूप थी और अवन्ती या अवन्तिका उज्जैन के पास की कदाचित् महाराष्ट्री से प्रभावित शौरसेनी था। दाक्षिणात्य भी शौरसेनी था। दाक्षिणात्य भी शौरसेनी का एक रूप है। हेमचन्द्र की चूलिका पैशाची को ही दण्डी ने 'भूत भाषा' कहा है (गलती से 'पैशाची' का अर्थ 'पिशाच' का या 'भूत' का समझकर)। कुछ लोगों ने लिखा है कि हेमचन्द्र ने 'पैशाची' को ही 'चूलिका पैशाची' कहा है किन्तु वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। हेमचन्द्र ने ये दोनों नाम अलग-अलग दिये हैं। दूसरी पहली की ही एक उपबोली है। गोड़ी का अर्थ है 'गौड' देश का। इसका आशय यह है कि यह मागधी का ही एक नाम है।

इस प्रकार प्राकृतों के प्रसंग में लगभग दो दर्जन नामों का उल्लेख मिलता है, किन्तु भाषा-वैज्ञानिक स्तर पर केवल पाँच ही प्रमुख भेद स्वीकार किये जा सकते हैं—

1. शौरसेनी 2. पैशाची, 3. महाराष्ट्री, 4. अर्द्धमागधी, 5. मागधी। आगे इन पाँच तथा कुछ अन्यो पर संक्षेप में प्रकाश डाला जा रहा है।

1. शौरसेनी— यह प्राकृत मूलतः मथुरा या शूरसेन के आस-पास की बोली थी। इसका विकास वहाँ की पालिकालीन स्थानीय बोली से हुआ था। मध्य देश की भाषा होने के कारण इसे कुछ लोग संस्कृत की भाँति उस काल की परिनिष्ठित भाषा मानते हैं। मध्य देश संस्कृत का केन्द्र था, इसी कारण शौरसेनी उससे बहुत प्रभावित है। इस प्रभाव के कारण शौरसेनी में अपेक्षाकृत प्राचीनता है तथा यह कुछ कृत्रिम है। संस्कृत नाटकों के गद्य की भाषा शौरसेनी ही है। कर्पूरमंजरी का गद्य इसी में है। इसका प्राचीनतम रूप अश्वघोष के नाटकों में मिलता है।

जैनों (दिगम्बर सम्प्रदाय) ने साम्प्रदायिक ग्रन्थों के लेखन में भी इसका प्रयोग किया है। ऐसे ग्रन्थों की भाषा 'जैन शौरसेनी' या 'दिगम्बर शौरसेनी' कही गयी है। यह मूल शौरसेनी से थोड़ी भिन्न है। शौरसेनी के अन्य स्थानीय रूप अवंती, आभीरी आदि हैं। शौरसेनी अपने समय की सर्वाधिक आभिजात्य भाषा थी। नाट्यशास्त्र में इसके नाटकों की प्रधान भाषा होने का संकेत मिलता है: 'शौरसैनम् समाश्रित्य भाषा कार्य तु नाटके।' वररुचि ने शौरसेनी प्राकृत का आधार संस्कृत माना है: 'प्रकृतिः संस्कृतम्'। राम शर्मन् के 'प्राकृतकल्पतरु' में 'विरच्यते सम्प्रति शौरसेनी पूर्वव भाषा प्राकृतिः किलास्यः' रूप में महाराष्ट्री को शौरसेनी का आधार माना गया है। पुरुषोत्तम ने 'प्राकृतानुशासनम्' में दोनों बातों को मिला दिया है: 'संस्कृतानुगमनाद् बहुलम् तथा शेषे महाराष्ट्री।'।

डॉ० घोष के अनुसार प्राचीन शौरसेनी प्राकृत, महाराष्ट्री की जननी है। प्राकृतानुशासन के अनुसार टक्क प्राकृत संस्कृत एवं शौरसेनी का मिश्रित रूप हैं। मध्यदेश की भाषा होने के कारण शौरसेनी का बड़ा आदर रहा है। राजशेखर ने कहा है— यो मध्ये मध्यदेशं विवसति स कविः सर्वभाषा निषण्णाः।

2. पैशाची— इसके अन्य नाम पैशाचिकी, पैशाचिका, ग्राम्य भाषा, भूतभाषा भूतवचन, भूत भाषित आदि भी मिलते हैं। अन्तिम तीन नाम 'पिशाच' को 'भूत' का पर्याय समझ लेने के आधार पर रखे हैं। महाभारत में 'पिशाच' जाति का उल्लेख है। ये उत्तर-पश्चिम में कश्मीर के पास थे। ग्रियर्सन इसे वहीं की 'दरद' से प्रभावित भाषा मानते हैं। हार्नले इसे द्रविड़ों द्वारा प्रयुक्त प्राकृत मानते हैं। पुरुषोत्तम देव ने अपने प्राकृतानुशासन में संस्कृत और शौरसेनी का इसे विकृत रूप माना है। वररुचि इसका आधार संस्कृत मानते हैं। पैशाची में साहित्य नहीं के बराबर है। यों ऐसा अनुमान लगाने के आधार हैं, कि कभी इसमें काफी साहित्य था। गुणाढ्य का वृहत्कथासंग्रह 'वृहत्कथा' मूलतः इसी में था। अब केवल दो संस्कृत रुपांतर ही—वृहत्कथामंजरी, कथासरित्सागर—शेष हैं। हम्मीरमर्दन तथा कुछ अन्य नाटकों में कुछ पात्रों ने इसका प्रयोग किया है। व्याकरणों आदि में भी इसके कुछ रूप सुरक्षित रह गए हैं, यद्यपि उनमें बहुतों के लेखकों को इसका प्रत्यक्ष ज्ञान शायद नहीं था। इसीलिए उनकी बातें प्रायः एक-दूसरे का विरोध करती हैं। पैशाची का जो कुछ रूप प्राप्त है, उसके आधार पर कहा जा सकता है कि पश्चिमोत्तरी प्राकृत से यह बहुत-कुछ मिलती जुलती थी। यों इस आधार पर

इसे पश्चिमोत्तरी प्राकृत की संज्ञा नहीं दी जा सकती। अपभ्रंश से भी इसका सम्बन्ध सिद्ध होता है। पैशाची के कई भेदों के उल्लेख मिलते हैं। हेमचन्द्र तथा कुछ अन्यो ने इसका एक रूप चूलिका पैशाची दिया है। मार्कण्डेय आदि ने इसके **कैकेय, पांचाल और शौरसेन** तीन भेद दिये हैं। प्राकृत सर्वस्व में देश तथा जाति के आधार पर इसके ग्यारह भेद दिये गए हैं। **लेसेन मागध, ब्रावड़, पैशाचिक** तीन भेद मानते हैं। इन बहुत से भेदों के आधार पर कुछ लोगों का विचार है कि पैशाची केवल अपने स्थान पर ही प्रचलित न होकर चारों ओर निम्न स्तर के लोगों में प्रचलित थी। मध्यदेश में इसके प्रचलित होने की पूरी सम्भावना है। इसी कारण यह अपनी ध्वनि-प्रक्रिया में एक सीमा तक संस्कृत से प्रभावित ज्ञात होती है।

(3) **माहाराष्ट्री या महाराष्ट्री**— इस प्राकृत का मूल स्थान महाराष्ट्र है। जूल ब्लाख ने मराठी का विकास इसी के बोलचाल के रूप में माना है। कुछ लोग इसे केवल महाराष्ट्र तक सीमित न मानकर महाराष्ट्र अर्थात् पूरे भारत की भाषा मानने के पक्ष में हैं। इसी रूप में डॉ० मनमोहन घोष ने इसे शौरसेनी के बाद की माना है। डॉ० सुकुमार सेन का भी लगभग यही मत है। कुछ लोग इसे काव्य की कृत्रिम भाषा मानते रहे हैं, किन्तु अब यह मत निर्मूल सिद्ध हो चुका है। गाहा सत्तसई (हाल), रावणहो (रावरसेन) तथा वज्जालग (जयवल्लभ) इसकी अमर कृतियाँ हैं। काव्य भाषा के रूप में इसका प्रचार पूरे उत्तरी भारत में था और इसमें 'गीति', 'खण्ड' और 'महा', सभी प्रकार के काव्य लिखे गए। कालिदास, हर्ष आदि के नाटकों के गीतों की भाषा यही है। कुछ लोग समझते हैं कि महाराष्ट्री में केवल कविता की रचना हुई, गद्य की नहीं है। किन्तु यथार्थतः यह बात नहीं है। श्वेताम्बर जैनियों ने भी इनमें अपने कुछ धार्मिक गद्य ग्रन्थ लिखे हैं। इस भाषा पर अर्धमागधी का भी प्रभाव पड़ा है। कुछ बौद्ध ग्रन्थ भी महाराष्ट्री में मिलते हैं महाराष्ट्र, प्राकृतों में परिनिष्ठित भाषा मानी गई है। इसीलिए वैयाकरणों ने पहले इसी का सविस्तार वर्णन किया है, और अन्य प्राकृतों के, केवल इससे अन्तरों का उल्लेख कर दिया है। इसी आधार पर कुछ लोग इसे मराठा देश से सम्बद्ध न मानकर पूरे भारत (महाराष्ट्र) की कहते हैं। एक मत यह है कि 'शक' अपने राज्य को 'महाराष्ट्र' कहते थे। उनके इस महाराष्ट्र के आधार पर ही, इसे पूरे राष्ट्र में बोली जाने के कारण, महाराष्ट्री कहा गया।

(4) **अर्धमागधी**— अर्धमागधी का क्षेत्र मागधी और शौरसेनी के बीच में है अर्थात् यह प्राचीन कोसल के आसपास की भाषा है। इसमें गागधी की पृवत्तियाँ भी पर्याप्त मात्रा में मिलती हैं, इसीलिए इसका नाम अर्धमागधी है। जैनियों ने इसके लिए 'आर्ष', 'आर्षी' और 'आदि भाषा' का भी प्रयोग किया है। इसका प्रयोग प्रमुखतः जैन साहित्य में हुआ है। गद्य और पद्य दोनों ही इसमें लिखे गए हैं। यों साहित्यिक नाटकों में भी इसका प्रयोग हुआ है। इसका प्राचीनतम प्रयोग अश्वघोष में मिलता है। साहित्यदर्पणकार ने इसे चरों, सेठों और राजपुत्रों की भाषा कहा है। मुद्राराक्षस और प्रबोध-चन्द्रोदय में भी इसका प्रयोग मिलता है। कुछ विद्वानों के अनुसार अशोक के अभिलेखों की मूल भाषा यही थी, जिनको स्थानीय रूपों में रूपांतरित किया गया था। जैनों द्वारा प्रयुक्त महाराष्ट्री तथा शौरसेनी पर इसका प्रभाव पड़ा है।

(5) **मागधी**— मागधी का मूल आधार मगध के आसपास की भाषा है। लास्सन महाराष्ट्री एवं मागधी को एक मानते थे। कुछ लोग इसका सम्बन्ध महाराष्ट्री से मानते हैं। वररुचि इसे शौरसेनी से निकली मानते हैं। संस्कृत नाटकों में निम्न श्रेणी के पात्र इसका प्रयोग करते हैं। इसका प्राचीनतम रूप अश्वघोष में मिलता है। इसे 'गौडी' भी कहते हैं। **बाहलीकी, ढक्की, शावरी** तथा **चांडाली** इसके जातीय रूप थे। शाकारी इसकी उपबोली थीं। इसमें अन्य सभी प्राकृतों से अधिक विकास हुआ है।

तृतीय प्राकृत

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, प्राकृत में अपभ्रंश भाषा आती है। तथाकथित अवहट्ट, जो अपभ्रंश एवं आधुनिक आर्यभाषाओं के बीच की कड़ी है, एक सन्धिकालीन भाषा है, अतः तृतीय प्राकृत की अन्तिम सीमा पर उसे भी रख सकते हैं।

अपभ्रंश

द्वितीय प्राकृत-काल की जनभाषाओं पर तत्कालीन साहित्यिक प्राकृत आधारित थीं, किन्तु साहित्य में आ जाने के कारण उनका जन स्तर पर विकास नहीं हुआ। जन स्तर पर जनभाषा ही विकसित होती रही। प्राकृत-कालीन जनभाषा का यही विकसित रूप मोटे तौर पर 500 ई० से 1000 ई० के बीच अपभ्रंश कहा जाता है। **अपभ्रंश** को **अवहंस** आदि कई अन्य नामों से भी अभिहित किया जाता है, जैसा कि आगे दिया गया है। इसके अतिरिक्त **ग्रामीण भाषा, देसी, देसी भाषा, आभीरोक्ति, आभीरी** आदि नामों से भी अपभ्रंश पुकारी जाती रहीं है।

अपभ्रंश शब्द का प्राचीनतम प्रामाणिक प्रयोग पतंजलि (150 ई० पू० के लगभग) के 'महाभाष्य' में मिलता है। यों भर्तृहरि (5वीं सदी) के 'वाक्यपदीय' (काण्ड 1, कारिका 148 का वार्तिक) से पता चलता है कि 'व्याडि' नाम के संग्रहकार ने भी अपभ्रंश शब्द का प्रयोग किया था। एक 'व्याडि' का उल्लेख महाभाष्यकार (कीलहार्न संस्करण, भाग 1, पृष्ठ 6) ने भी किया है। इसका आशय है कि ये 'व्याडि' महाभाष्यकार पतंजलि से पहले हुए थे। ऐसी स्थिति में यदि 'वाक्यपदीय' और 'महाभाष्य' के व्याडि एक हों तो अपभ्रंश शब्द के प्रथम प्रयोग का श्रेय 'व्याडि' को दिया जा सकता है। व्याडि और पतंजलि (एकस्यैव शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः) में इस शब्द के प्रयोग तो हैं, किन्तु उनमें इसका अर्थ, 'भाषा विशेष' न होकर, तत्सम शब्द का 'तद्भव' या 'विकृत' रूप है। आगे भरत (तीसरी सदी) ने अपने नाट्यशास्त्र में इसी अर्थ में 'विभ्रष्ट' शब्द का प्रयोग किया। भरत (17-49,50) ने मागधी, अवन्ती, प्राच्या आदि सात भाषाओं एवं उनकी कई जातीय या स्थानीय बोलियों का उल्लेख किया है, किन्तु इनमें अपभ्रंश का नाम नहीं है। संकेत यह है कि तीसरी सदी के लगभग तक विकृत शब्दों को 'अपभ्रंश' या 'विभ्रष्ट' आदि कहा तो जाता था, किन्तु किसी भाषा के अर्थ में इसी प्रकार का कोई शब्द प्रयोग में नहीं था। लगता है कि आगे चलकर इस प्रकार के 'अपभ्रंश' शब्दों (ऐसे शब्द जो संस्कृत की तुलना में भी अपभ्रंश थे) के अधिक प्रयोग के कारण ही वह भाषा भी **अपभ्रंश** या **अपभ्रष्ट** कही जाने लगी और स्वयं ये नाम भी अपभ्रंशित होकर **अवभंस**, **अवहंस** या **अवहत्थ**, **अवहट्ट** **अवहट्ट**, **अवहट** एवं **औहट** आदि रूपों में उस भाषा के लिए प्रयुक्त होने लगे।

समय— ऊपर यह कहा जा चुका है कि अपभ्रंश का काल मोटे रूप से 500 ई० से 1000 ई० तक है। या कुछ लोगों ने 600 से 1100 तक या कभी-कभी 1200 तक भी इसका समय माना है। कुछ दूसरों ने और आगे बढ़कर 7वीं सदी से 13वीं तक भी इसे माना है कि अनेक प्राकृत वैयाकरणों तथा अन्यो ने अन्य प्राकृतों के साथ ही अपभ्रंश को भी गिनाया, तो कहीं ऐसा तो नहीं है कि अपभ्रंश भी अन्य प्राकृतों की समकालिन रही हो। इधर डॉ० सुकुमार सेन ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ के नए संस्करण में अपभ्रंश का काल 1 ई० से 600 ई० माना है। ऐसी स्थिति में इसके काल निर्धारण की समस्या भी विचारणीय है। भाषा के अर्थ में 'अपभ्रंश' शब्द का प्रथम प्रयोग 'चण्ड' ने इसका प्रयोग किया है। (**न लोपोऽभ्रंशोऽधो रेफस्य**), इससे यह अनुमान लगता है कि उस काल तक भाषा के रूप में 'अपभ्रंश' नाम पर्याप्त प्रचलन पा चुका

था। भामह ने इसी सदी में 'अपभ्रंश' को संस्कृत और प्राकृत के साथ एक काव्योपयोगी भाषा कहा (संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा—काव्यालंकार 1,16,28)। बलभी के राजा द्वितीय धरसेन के इसी सदी के एक ताम्रलेख में 'संस्कृतप्राकृतापभ्रंश भाषात्रयप्रतिबद्ध प्रबनधरचना निपुणान्तकारणः' में भी इसका नाम आता है। इससे भी उसी बात का संकेत मिलता है। इसका आशय यह हुआ कि मोटे रूप से 500 ई० के बहुत बाद अपभ्रंश का जन्म नहीं माना जा सकता, क्योंकि छठी सदी में यह स्वीकृत काव्यभाषा बन चुकी थी और जन्मतेही काव्यभाषा नहीं बन जाती।

जन्म के बाद काव्यभाषा स्वीकृत होने में सौ—पचास साल लग ही जाते हैं। ऐसी स्थिति में डॉ० उदयनारायण तिवारी (हिन्दी भाषा का उद्भव और विकास, 2रा सं०, पृ० 60) द्वारा दिया गया (600 ई०) या डॉ० नामवर सिंह द्वारा (हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, 1961, पृ० 281) उल्लिखित (सातवीं सदी) समय स्वीकार नहीं किये जा सकते। इन लोगों की मान्यताएँ उपर्युक्त उद्धरणों के साथ मेल नहीं खाती। दूसरा प्रश्न यह उठता है कि क्या 500 ई० से बहुत पहले अपभ्रंश का जन्म माना जा सकता है, जैसा कि डॉ० सेन ने किया है। इस सम्बन्ध में दो बातें कहीं जा सकती हैं। एक तो यह कि ऊपर के बलभी नरेश या भामह के उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि संस्कृत और प्राकृत के बाद ही अपभ्रंश का क्रम आता है। साहित्यिक प्राकृतों का जन्म पहली सदी के आसपास हुआ तथा उनका साहित्य में प्रयोग दूसरी सदी के लगभग से माना जा सकता है। भाषा में इतना अधिक परिवर्तन आने में कि वह दूसरे नाम की अधिकारिणी बन सके, कम से कम चार पाँच सौ साल तो लगेंगे ही। इसके अतिरिक्त साहित्य की दृष्टि से अपभ्रंश—अंशों का प्रथम दर्शन कालिदास के 'विक्रमोर्वशीयम्' में होता है। इसे याकोबी तथा स० प० पण्डित अप्रामाणिक मानते हैं, किन्तु डॉ० उपाध्याय एवं डॉ० तगारे आदि प्रामाणिक मानते हैं। यदि अप्रामाणिक माने तो इन अपभ्रंश अंशों का काल और इधर खिसक आता है और प्रामाणिक मानने पर भी पहली सदी के पास इसका रचनाकाल नहीं पहुँचता। इस प्रकार पहली दूसरी सदी के निकट की कोई अपभ्रंश रचना हमें नहीं मिली है। ये दोनों बातें पहले सदी या उसके आस—पास अपभ्रंश का जन्म मानने में बाधक सिद्ध होती हैं। अतः सभी बातों का ध्यान में रखते हुए अपभ्रंश का जन्म 500 ई० के आसपास मानना ही अधिक ज्ञात होता है। जहाँ अपभ्रंश की उत्तर सीमा का प्रश्न है, उसे मोटे रूप से

1000 ई० के पास ही मानना होगा। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, भाषा जन्मते ही साहित्य में प्रयुक्त नहीं होती। उसे मान्यता मिलने में समय लग जाता है और पुरानी हिन्दी की अब तक प्राप्त प्राचीनतम प्रामाणिक रचना 11वीं सदी की राउलवेल (रोडा कृत) है। ऐसी स्थिति में हिन्दी का जन्म 1000 के आसपास ही माना जा सकता है। उसके बहुत बाद नहीं। लगभग सभी आधुनिक आर्यभाषाओं की यही स्थिति है। यह बात दूसरी है कि उसके बहुत बाद तक अपभ्रंश या तथाकथित अवहट्ट में ग्रन्थ लिखे जाते रहे, इसी प्रकार जैसे इस सदी में भी संस्कृत में नाटक एवं काव्य ग्रन्थ लिखे गए हैं। निष्कर्षतः अपभ्रंश का काल लगभग 500 से 1000 तक ही मानना उचित है।

अपभ्रंश की बोलियाँ और आधुनिक भाषाओं से उनका सम्बन्ध

ऊपर अपभ्रंश के भौगोलिक रूपों, भेदों या बोलियों का उल्लेख किया गया है। आज की आर्यभाषाओं की जननी के रूप में निम्नांकित अपभ्रंश बोलियाँ उल्लेख्य हैं।

अपभ्रंश बोलियाँ	उनसे निकलने वाली आधुनिक भाषाएँ
1. शौरसेनी	(क) पश्चिमी हिन्दी (ख) इस अपभ्रंश के नागर रूप से— (अ) राजस्थानी (ब) गुजराती (ग) इस अपभ्रंश के पहाड़ी भागों में स्थित रूप से पहाड़ा
2. पैशाची या केकय टक्क	(क) लहँदा (ख) पंजाबी (इस पर शौरसेनी उपभ्रंश का प्रभाव है।
3. ब्राचड,	सिन्धी
4. महाराष्ट्री	मराठी
5. अर्धमागधी	पूर्वी हिन्दी
6. मागधी	(क) बिहारी (ख) बंगाली

(ग) उड़िया

(घ) असमिया

पहाड़ी भाषाओं (नेपाली, कुमायूनी, गढ़वाली आदि) के लिए डॉ० चटर्जी ने खस अपभ्रंश की कल्पना की थी। किन्तु ये भी शौरसेनी से ही (शौरसेनी के उस रूप से जो पहाड़ी भागों में प्रचलित था, यदि चाहे तो उसे अपभ्रंश बोली शौरसेनी की खस उपबोली कह सकते हैं) निकली है। 'पूर्वी हिन्दी' का सम्बन्ध डॉ० सक्सेना अर्धमागधी से नहीं मानते। उनके विचार में यह अपेक्षाकृत पालि के अधिक निकट है, किन्तु उस अपभ्रंश को, जिससे पूर्वी हिन्दी निकाली है, अर्धमागधी कहना ही उचित है। पीछे महाराष्ट्री प्राकृत पर विचार करते समय कहा जा चुका है कि महाराष्ट्री केवल महाराष्ट्र की प्राकृत न होकर पूरे आर्य क्षेत्र में काव्य में प्रचलित थी। यहाँ, जिस महाराष्ट्री अपभ्रंश का उल्लेख है, वह अपभ्रंश है। जो अपभ्रंश काल में महाराष्ट्र में प्रयुक्त होती थी। इस अपभ्रंश का सम्बन्ध उस प्राकृत से है जो प्राकृत काल में महाराष्ट्र की जनभाषा थी। यह आवश्यक नहीं कि वह प्राकृत, काव्यभाषा महाराष्ट्री प्राकृत से सभी बातों में समान रही हो, यद्यपि दोनों का नाम एक है। ऊपर शौरसेनी अपभ्रंश के उपरुप **नागर अपभ्रंश** से राजस्थानी एवं गुजराती का सम्बन्ध माना गया है। यह शौरसेनी अपभ्रंश का दक्षिणी पश्चिमी रूप था। अपभ्रंश की इस उपबोली को कभी-कभी **सौराष्ट्री अपभ्रंश** भी कहते हैं। **पैशाची** के स्थान पर कुछ लोग **केकय** का प्रयोग करते हैं। खस को दरद नाम से भी पुकारा गया है। कुछ लोगों ने पैशाची या केकय से ही **सिन्धी, पंजाबी एवं लहँदा** तीनों को सम्बद्ध किया है किन्तु कुछ **'ब्राचड़'** से सिन्धी का विकास मानते हैं।

पालि-काल में गुजरात में जो रूप बोला जाता था, दूसरी सदी ई० पू० में वहाँ से जाने वालों के साथ श्रीलंका पहुँचा। प्राकृत काल में वह सिंहली प्राकृत या एलू प्राकृत (सिंहली के आदि रूप को एलू कहते हैं) था। अपभ्रंश काल में उसे सिंहली अपभ्रंश या एलू अपभ्रंश कह सकते हैं।

इकाई-4

भाषा का स्वरूप

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज में रहने के नाते उसे आपस में सर्वदा ही विचार-विनिमय करना पड़ता है। कभी वह शब्दों या वाक्यों द्वारा अपने आपको प्रकट करता है तो कभी सिर हिलाने से उसका काम चल जाता है। समाज के उच्च और शिक्षित वर्ग में लोगों को निमंत्रित करने के लिए निमंत्रण-पत्र छपवाये जाते हैं तो देहात के अनपढ़ और निम्नवर्ग में निमंत्रित करने के लिए हल्दी, सुपारी या इलायची बाँटना पर्याप्त समझा जाता है। रेलवे गार्ड और रेल-चालक का विचार-विनिमय झंडियों से होता है, तो बिहारी के पात्र भरे भवन में करते हैं नैनन ही सों बात। चोर अँधेरे में एक-दूसरे का हाथ छूकर या दबाकर अपने आपको प्रकट कर लिया करते हैं। इसी तरह हाथ से संकेत, करतल-ध्वनि, आँख टेढ़ी करना, मारना या दबाना, खाँसना, मुँह बिचकाना तथा गहरी साँस लेना आदि अनेक प्रकार के साधनों से हमारे विचार-विनिमय का काम चलता है। ऐसे ही यदि पहले से निश्चित कर लिया जाये तो स्वाद या गंध द्वारा भी अपनी बात कही जा सकती है। उदाहरण के लिए, यदि मैं कॉफी पिलाऊँ तो समझ जाना कि मेरे पास समय है, तुम्हारा काम करूँगा, किन्तु यदि चाय पिलाऊँ तो समझ जाना कि समय नहीं है, काम नहीं करूँगा, या यदि मेरे कमरे में गुलाब की अगरबत्ती जलती मिले तो समझना कि तुम्हारा काम हो गया है, किन्तु यदि चंदन की अगरबत्ती जलती मिले तो समझ जाना कि काम नहीं हुआ। आशय यह कि गंध-इन्द्रिय, स्वाद-इन्द्रिय, स्पर्श-इन्द्रिय, दृग्-इन्द्रिय तथा कर्ण-इन्द्रिय इन पाँचों में किसी के भी माध्यम से अपनी बात कही जा सकती है। यों इनमें पहली तथा दूसरी का प्रयोग प्रायः नहीं होता, हाँ, किया जा सकता है, स्पर्श-इन्द्रिय का भी प्रयोग कम ही होता है। इससे अधिक प्रयोग आँख का होता है, जैसे रेल का सिगनल, गार्ड की हरी या लाल झंडी, सिर हिलाकर हाँ या नहीं करना, आदि। किन्तु इन सभी में सबसे अधिक प्रयोग कर्ण-इन्द्रिय का होता है। अपनी सामान्य-बातचीत में हम इसी का प्रयोग करते हैं। वक्ता बोलता है और श्रोता सुनकर विचार या भाव को ग्रहण करता है।

कहने को अभिव्यक्ति के उपर्युक्त पाँचों ही प्रकार के साधन भाषा हैं, किन्तु सामान्यतः जैसा कि हम आगे देखेंगे, भाषा का इतना विस्तृत अर्थ प्रायः नहीं लिया जाता।

परिभाषा

अपने व्यापकतम रूप से तो **भाषा वह साधन है जिसके माध्यम से हम सोचते हैं तथा अपने विचारों को व्यक्त करते हैं;** किन्तु भाषाविज्ञान में हम जिस भाषा का अध्ययन—विश्लेषण करते हैं, वह इतनी व्यापक नहीं है। उसमें हम उन सभी साधनों को नहीं लेते जिनके द्वारा विचारों को व्यक्त करते हैं और न उसे लिया जाता है जिसके द्वारा हम सोचते हैं। भाषा उसे कहते हैं जो बोली और सुनी जाती है और बोलना भी पशु—पक्षियों का नहीं, गूँगे मनुष्यों का भी नहीं, केवल बोल सकने वाले मनुष्यों का।

भाषा की अनेक परिभाषाएँ दी गयी हैं : 1. 'भाषा' धातु से बना है जिसका अर्थ है— 'बोलना' या 'कहना'। अर्थात् 'भाषा' वह है जिसे बोला जाय।' 2. प्लेटो ने 'सोफिस्ट' में विचार और भाषा के सम्बन्ध में लिखते हुए कहा है कि विचार और भाषा में थोड़ा ही अन्तर है। विचार आत्मा की मूक या अध्वन्यात्मक बातचीत है, पर वही जब ध्वन्यात्मक होकर होठों पर प्रकट होती है तो उसे भाषा की संज्ञा देते हैं। 3. स्वीट के अनुसार 'ध्वन्यात्मक शब्दों द्वारा विचारों को प्रकट करना ही भाषा है। 4. वेन्द्रिए कहते हैं, 'भाषा एक तरह का संकेत है। संकेत से आशय उन प्रतीकों से है जिनके द्वारा मानव अपने विचार दूसरों पर प्रकट करता है। ये प्रतीक कई प्रकार के होते हैं, जैसे नेत्रग्राह्य, कर्णग्राह्य और स्पर्शग्राह्य। वस्तुतः भाषा की दृष्टि से कर्णग्राह्य प्रतीक ही सर्वश्रेष्ठ है।' आधुनिक भाषा शास्त्रियों में अधिकांश ने भाषा की परिभाषा लगभग एक—सी दी है।

तथापि भाषागत सम्पूर्ण विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए भाषा की परिभाषा कुछ इस प्रकार दी जा सकती है— **भाषा, उच्चारण—अवयवों से उच्चरित, यादृच्छिक ध्वनि—प्रतीकों की वह व्यवस्था है जिसके द्वारा समाज विशेष के लोग आपस में विचारों का आदान—प्रदान करते हैं।**

अभी कहा गया है कि 'भाषा उच्चारण—अवयवों से उच्चरित यादृच्छिक ध्वनि—प्रतीकों की उस व्यवस्था को कहते हैं जिसके द्वारा समाज विशेष के लोग विचार—विनिमय करते हैं। यदि इसमें 'भाषा के प्रकार्य को जोड़ दें' तथा 'व्यवस्था' को गइराई से देखें और मानव भाषा को दृष्टि में रखें तो निम्नांकित बातें इस परिभाषा में जोड़ी जा सकती हैं— क. भाषा विचार—विनिमय का साधन तो है ही, साथ ही कोई व्यक्ति चाहता है तो भाषा के माध्यम से

अपने विचारों तथा अनुभवों को लेख, कविता, पुस्तक आदि में व्यक्त भी करता है। ख. यही नहीं, किसी व्यक्ति के भाषा-प्रयोग के आधार पर उस व्यक्ति के सामाजिक स्तर तथा व्यक्तित्व के विषय में भी काफी कुछ पता सुनने वाले को भाषा संचल जाता है। ग. जिसे प्रतीकों की व्यवस्था कहा गया है, वह तत्त्वतः 'प्रतीकों की संरचनात्मक व्यवस्था' होती है। अर्थात्, भाषिक व्यवस्था के भीतर संरचना के स्तर होते हैं जो कई होते हैं। जैसे ध्वनि-स्तर, वाक्य स्तर आदि। घ. जिस भाषा की चर्चा यहाँ की जा रही है, वह मानव-भाषा है, अतः उसे 'मानव-उच्चारणावयवों से उच्चरित' कहना अधिक सही है, अन्यथा सभी जीव जन्तुओं की उच्चरित भाषा इसके अन्तर्गत आ जायेगी जो यहाँ अपेक्षित नहीं है। तो भाषा की अधिक व्यवस्थित और सर्वसमावेशी परिभाषा हुई—

भाषा मानव-उच्चारणावयवों से उच्चरित यादृच्छिक ध्वनि-प्रतीकों की वह संरचनात्मक व्यवस्था है, जिसके द्वारा समाज विशेष के लोग आपस में विचार-विनिमय करते हैं, लेखक, कवि या वक्ता रूप में अपने अनुभवों एवं भावों आदि को व्यक्त करते हैं तथा अपने वैयक्तिक और सामाजिक व्यक्तित्व, विशिष्टता तथा अस्मिता के सम्बन्ध में जाने-अनजाने जानकारी देते हैं।

भाषा की विशेषताएँ और प्रकृति

1. भाषा पैतृक सम्पत्ति नहीं है— कुछ लोगों का विश्वास है कि भाषा पैतृक सम्पत्ति है। पिता की भाषा पुत्र को पैत्रिक सम्पत्ति की भाँति अनायास की प्राप्त होती है। किन्तु यथार्थतः ऐसी बात नहीं है। यदि किसी भारतीय बच्चे को एक-दो वर्ष की अवस्था से फ्रांस में पाला जाय तो वह हिन्दी या हिन्दुस्तानी आदि न समझ या बोल सकेगा और फ्रेंच ही उसकी मातृभाषा या अपनी भाषा होगी। यदि भाषा पैतृक सम्पत्ति होती तो भारतीय लड़का भारत से बाहर कहीं भी रहकर बिना प्रयास के हिन्दी समझ और बोल लेता। कुछ वर्ष पूर्व लखनऊ के अस्पताल में लगभग 12 वर्ष का एक लड़का लाया गया था जो मनुष्य की तरह कुछ भी नहीं बोल पाता था। खोज करने पर पता चला कि उसे कोई भेड़िया बहुत बहुत पहले उठा ले गया था और तब से वह उसी भेड़िये के साथ रहा। उसमें सभी आदतें भेड़िये-सी थीं। उसके मुँह से निःसृत ध्वनि भी

भेड़िये से ही मिलती-जुलती थी। यदि भाषा पैतृक सम्पत्ति होती तो वह अवश्य मनुष्य की तरह बोलता, क्योंकि वह गूँगा नहीं था।

2. **भाषा अर्जित सम्पत्ति है—** ऊपर के दोनों उदाहरणों में हम देख चुके हैं कि अपने चारों ओर के समाज या वातावरण से मनुष्य भाषा सीखता है। भारतवर्ष में उत्पन्न शिशु फ्रांस में रहकर इसीलिए फ्रेंच बोलने लगता है कि उसके चारों ओर फ्रेंच का वातावरण रहता है। इस प्रकार भेड़िये का साथी लड़का एक ओर वातावरण के अभाव में मनुष्य की कोई भाषा नहीं सीख सका, और दूसरी ओर भेड़िये के साथ रहने से वह उसी की ध्वनि का कुछ रूपों में अर्जन कर सका। अतएव यह स्पष्ट है कि भाषा आसपास के लोगों से अर्जित की जाती है, और इसीलिए यह पैतृक न होकर अर्जित सम्पत्ति है।
3. **भाषा आद्यन्त सामाजिक वस्तु है—** ऊपर हम भाषा को अर्जित कह चुके हैं। प्रश्न यह है कि व्यक्ति इस सम्पत्ति का अर्जन कहाँ से करता है? इसका एक मात्र उत्तर है 'समाज से।' इतना ही नहीं, भाषा पूर्णतः आदि से अंत तक समाज से सम्बन्धित है। उसका विकास समाज में ही होता है, और इसीलिए यह एक सामाजिक संस्था है। यों, अकेले में, हम भाषा के सहारे सोचते अवश्य हैं, किन्तु वह भाषा इस सामान्य मुखर भाषा से भिन्न है जिसकी बात की जा रही है।
4. **भाषा परम्परा है, व्यक्ति उसका अर्जन कर सकता है उसे उत्पन्न नहीं कर सकता—** भाषा परम्परा से चली आ रही है, व्यक्ति उसका अर्जन परम्परा और समाज से करता है। एक व्यक्ति उसमें परिवर्तन आदि तो कर सकता, किन्तु उसे उत्पन्न नहीं कर सकता। यदि कोई उसका जनक और जननी है तो समाज और परम्परा।
5. **भाषा का अर्जन अनुकरण द्वारा होता है—** ऊपर की बातों में भाषा के अर्जित एक समाज-सापेक्ष होने की बात हम कह चुके हैं। यहाँ 'अर्जन' की विधि के सम्बन्ध में इतना और कहना है कि भाषा को हम 'अनुकरण द्वारा' सीखते हैं। शिशु के समक्ष माँ 'दूध' कहती है। वह सुनता है और धीरे-धीरे उसे स्वयं कहने का प्रयास करता है। प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक अरस्तू के शब्दों में अनुकरण मनुष्य का सबसे बड़ा गुण है। वह भाषा के सीखने में भी उसी गुण का उपयोग करता है।

6. **भाषा चिरपरिवर्तनशील है**— यथार्थतः भाषा केवल मौखिक भाषा को कहना चाहिये। उसका लिखित रूप तो उसी मौखिक पर आधारित है और उसी के पीछे-पीछे चलता है। यह मौखिक भाषा स्वयं अनुकरण पर आधारित है, अतः दो आदमियों की भाषा बिल्कुल एक-सी नहीं होती। अनुकरण-प्रिय प्राणी होने पर भी मनुष्य अनुकरण की कला में पूर्ण नहीं है। अनुकरण का 'पूर्ण' या 'ठीक' न होना कई बातों पर आधारित है। ऊपर हम कह चुके हैं कि भाषा के दो आधार हैं— 1. शारीरिक और 2. मानसिक। परिवर्तन में ये दोनों ही कार्य करते हैं। अनुकरणकर्ता की शारीरिक और मानसिक परिस्थिति सर्वदा ठीक वैसी ही नहीं रहती जैसी कि उसकी रहती है, जिसका अनुकरण किया जाता है। इस प्रकार प्रत्येक अनुकरण में कुछ न कुछ विभिन्नता का आ जाना उतना ही स्वाभाविक है जितना कि अनुकरण करना।
- ये साधारण और छोटी-छोटी विभिन्नताएँ ही भाषा में परिवर्तन उपस्थित किया करती हैं। इसके अतिरिक्त प्रयोग से घिसने और बाहरी प्रभावी से भी परिवर्तन होता है। इस प्रकार भाषा प्रतिपल परिवर्तित होती रहती है।
7. **भाषा का कोई अन्तिम स्वरूप नहीं है**— जो वस्तु बन-बनाकर पूर्ण हो जाती है, उसका अन्तिम स्वरूप होता है, पर भाषा के विषय में यह बात नहीं है। वह कभी पूर्ण नहीं हो सकती। अर्थात्, यह कभी नहीं कहा जा सकता कि अमुक भाषा का अमुक रूप अन्तिम है। यहाँ यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि भाषा से हमारा अर्थ जीवित भाषा से है। मृत भाषा का अन्तिम रूप तो अवश्य ही अन्तिम होता है, पर जीवित भाषा में यह बात नहीं है। जैसा कि अन्य सभी के लिए सत्य है, भाषा के विषय में असत्य नहीं है कि परिवर्तन और अस्थैर्य ही उसके जीवन का द्योतक है। पूर्णता और स्थिरता मृत्यु है, या मृत्यु ही पूर्णता या स्थिरता है।
8. **प्रत्येक भाषा की एक भौगोलिक सीमा होती है**— हर भाषा की अपनी एक भौगोलिक सीमा होती है। सीमा के भीतर ही उस भाषा का अपना वास्तविक क्षेत्र होता है। उस सीमा के बाहर उसका स्वरूप थोड़ा या अधिक परिवर्तित हो जाता है या उस सीमा के बाहर किसी पूर्णतः भिन्न भाषा की सीमा शुरू हो जाती है।

9. **प्रत्येक भाषा की एक ऐतिहासिक सीमा होती है**— भौगोलिक सीमा की तरह भाषा की ऐतिहासिक सीमा भी होती है। अर्थात्, प्रत्येक भाषा इतिहास के किसी निश्चित काल से प्रारम्भ होकर इतिहास के निश्चित काल तक व्यवहृत होती है तथा वह भाषा अपने काल की परिवर्ती या पूर्ववर्ती भाषा से भिन्न होती है। उदाहरण के लिए, मोटे रूप से प्राकृत भाषा का काल पहली ईसवी से 500ई0 तक माना जाता है। इस कड़ी में इसके पूर्व पालि भाषा थी, तथा इसके बाद अपभ्रंश, और ये दोनों भाषाएँ प्राकृत से भिन्न हैं।
10. **प्रत्येक भाषा की अपनी संरचना अलग होती है**— दूसरे शब्दों में किन्हीं भी दो धातुओं का ढाँचा पूर्णतया एक नहीं होता है। उनमें ध्वनि, शब्द, रूप, वाक्य या अर्थ आदि में किसी भी एक स्तर पर या एक से अधिक स्तरों पर संरचना या ढाँचे में अन्तर अवश्य होता है। यही अन्तर उनकी अलग या स्वतंत्र सत्ता का कारण बनता है।
11. **भाषा की धारा स्वभावतः कठिनता से सरलता की ओर जाती है**— सभी भाषाओं के इतिहास से भाषा के कठिनता से सरलता की ओर जाने की बात स्पष्ट है। यों भी इसके लिए सीधा तर्क हमारे पास यह है कि मनुष्य का यह जन्मजात स्वभाव है कि कम से कम प्रयास में अधिक से अधिक लाभ उठाना चाहता है। इसी 'कम प्रयास' के प्रयास में वह 'सत्येन्द्र' को 'सतेन्द्र' और फिर 'सतेन' कहने लगता है, और एक अवस्था ऐसी आ जाती है जब यह केवल 'सति' कहकर ही काम चलाना चाहता है। यह उदाहरण 'ध्वनि' से सम्बन्धित है। किन्तु, व्याकरण के रूपों के बारे में भी यही बात है। पुरानी भाषाओं में रूपों और अपवादों का बाहुल्य है, किन्तु आधुनिक भाषाओं में रूप कम हो गये हैं, साथ ही नियम बढ़ गये हैं और अपवाद कम हो गये हैं, और आगे भी कम होते जा रहे हैं। भाषा पानी की धारा है जो स्वभावतः ऊँचाई के नीचे की ओर जाती है।
12. **भाषा स्थूलता से सूक्ष्मता और अप्रौढ़ता से प्रौढ़ता की ओर जाती है**— भाषा की उत्पत्ति पर विचार करते समय कहा जा चुका है कि आरम्भ में भाषा स्थूल थी, सूक्ष्म भावों के लिए या विचारों को गहराई से व्यक्त करने के लिए अपेक्षित सूक्ष्मता उसमें नहीं थी, फिर धीरे-धीरे उसने इसकी प्राप्ति की है। इसी प्रकार दिन-पर-दिन भाषा में विकास

होता रहा है और वह अप्रौढ़ से प्रौढ़ और प्रौढ़ से प्रौढ़तर होती जा रही है। यह एक सामान्य सिद्धान्त तो है, किन्तु प्रयोग पर भी निर्भर करता है। आज की हिन्दी की तुलना में कल की हिन्दी अधिक सूक्ष्म और प्रौढ़ होगी, किन्तु संस्कृत की तुलना में आज की हिन्दी को सूक्ष्म और प्रौढ़ नहीं कह सकते, क्योंकि उन अनेक क्षेत्रों में प्रयुक्त होकर अभी तक हिन्दी विकसित नहीं हुई, जिनमें संस्कृत हजारों वर्ष पूर्व हो चुकी है।

13. **भाषा संयोगावस्था से वियोगावस्था की ओर जाती है**— पहले लोगों का विचार था कि भाषा वियोग से संयोग की ओर जाती है। कुछ लोगों का यह भी मत रहा है कि बारी-बारी से भाषाओं की जिन्दगी दोनों स्थितियों से गुजरती रहती है। किन्तु, अब ये मत प्रायः भ्रामक सिद्ध हो चुके हैं। नवीन मत के अनुसार भाषा संयोग से वियोग की ओर जाती है। संयोग का अर्थ है मिली होने की स्थिति, जैसे— रामः गच्छति' तथा वियोग का अर्थ है अलग हुई स्थिति, जैसे— राम जाता है'। संस्कृत में केवल गच्छति' से काम चल जाता था, पर हिन्दी में जाता है' का प्रयोग करना पड़ता है।

14. **हर भाषा का स्पष्टतः या अस्पष्टतः एक मानक रूप होता है**— भाषा के भाषा की परिभाषा' में कुछ अल्प विशेषताओं की ओर भी संकेत किया गया है।

भाषा का विकास या परिवर्तन और उसके कारण—

भाषा में परिवर्तन होना ही उसका विकास या विकार है। पीछे कहा जा चुका है कि भाषा चिरपरिवर्तनशील है। भाषा में विकास या परिवर्तन उसके पाँचों ही रूपों—ध्वनि, शब्द, रूप, अर्थ, और वाक्य— में होता है। इन परिवर्तनों के कारण और उसके रूपों या दिशाओं पर अच्छी प्रकार विचार, इन पाँचों से सम्बद्ध विस्तृत चर्चा में अलग-अलग किया जा सकता है। यहाँ संक्षेप में केवल कुछ सामान्य बातें ही कही जा रही हैं।

भाषा के विकास या परिवर्तन पर बहुत पहले से किसी न किसी रूप में विचार किया गया है। शब्दशास्त्र पर विचार करने वाले प्राचीन भारतीय आचार्यों में कात्यायन, पतंजलि, कैयट तथा काशिकाकार जयादित्य और वामन के नाम इस दृष्टि से विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यूरोप में इस विषय पर गम्भीरता से और व्यवस्थित रूप से विचार करने वाले प्रथम व्यक्ति

डैनिश विद्वान् जे० एच० ब्रेडसडॉर्फ हैं। इन्होंने 1821 में गॉथिक ध्वनि-परिवर्तन पर विचार करते समय तथा अन्यत्र भी भाषा-परिवर्तन के 7-8 कारण गिनाये थे। तब से इस सदी तक पाल, येस्पर्सन आदि अनेक लोगों ने इस विषय को उठाया। पिछले दशक में स्टुर्टवेंट ने इस विषय का पहली बार बहुत विस्तार से विवेचन किया, यद्यपि उसे भी पूर्ण नहीं माना जा सकता है।

विकास के कारणों के प्रमुख दो वर्ग- भाषा में विकास जिन कारणों से होता है, उन्हें प्रमुखतः दो वर्गों में रखा जा सकता है। एक अभ्यंतर और दूसरा बाह्य। अभ्यंतर वर्ग में भाषा की अपनी स्वाभाविक गति तथा वे कारण सम्मिलित हैं, जो प्रयोक्ता की शारीरिक या मानसिक योग्यता आदि सम्बन्धी स्थिति से सम्बन्ध रखते हैं। बाह्य वर्ग में वे कारण आते हैं जो बाहर से भाषा को प्रभावित करते हैं।

इन दोनों में पहले प्रकार के कारण भीतरी, आन्तरिक या अभ्यंतर कहे जा सकते हैं और दूसरे प्रकार के लोगों को 'बाहरी' या 'बाह्य' की संज्ञा दी जा सकती है। यहाँ दोनों के अन्तर्गत आने वाले कुछ प्रमुख कारणों पर संक्षेप में विचार किया जा रहा है। विशेष महत्व के कारण सादृश्य पर अलग से विचार किया गया है।

आभ्यंतर वर्ग-

आभ्यंतर वर्ग के अन्तर्गत वे सभी कारण आते हैं जो प्रभाव नहीं डालते। संक्षेप में, प्रधान कारणों को यहाँ लिया जा सकता है-

प्रयोग से घिस जाना- अधिक प्रयोग के कारण धीरे-धीरे अन्य सभी चीजों की भाँति भाषा में भी स्वाभाविक रूप से परिवर्तन होता है। संस्कृत की कारकीय विभक्तियाँ इसी प्रकार धीरे-धीरे घिसते-घिसते समाप्त हो गयी।

बल- जिस ध्वनि या अर्थ पर अधिक बल दिया जाता है, वह अन्य ध्वनियों या अर्थों को या तो कमजोर बना देता है, या समाप्त कर देता है। इस प्रकार इसके कारण भी भाषा में विकास या परिवर्तन हो जाता है।

प्रयत्न-लाघव- भाषा में विकास लाने के वाले या परिवर्तन उपस्थित करने वाले कारणों में यह सबसे महत्वपूर्ण है और भाषा में विकास या परिवर्तन के 90 प्रतिशत से भी अधिक का दायित्व इस पर है। इसे 'मुख-सुख' भी कहते हैं।

आदमी कम से कम प्रयास से अधिक से अधिक काम करना चाहते हैं। बोये हुए खेतों में भी लोगों की वही प्रवृत्ति बीच से तिरछे रास्ता बना देती है। बोलने में भी इसी प्रकार कम से कम प्रयत्न से लोग शब्दों को उच्चरित करना चाहते हैं और इस कम से कम प्रयास, या प्रयत्न—लाघव के प्रयास में ही शब्दों को सरल बनाते या सरलता के लिए कभी तो बड़ा और कभी छोटा बना डालते हैं, या कभी केवल कठिन संयुक्त व्यंजनों आदि को सरल कर लेते हैं। कृष्ण का कन्हैया, कान्हा या किशन, भक्त का भगत, प्वाइंट्समैन का पैटमैन, स्टेशन का टेसन, धर्म का धरम, 'बीबीजी' का बीजी, गोपेन्द्र का गोबिन, गृद्ध का गिद्ध तथा अलक्तक का आलता आदि सरल करके बोलने के प्रयास के ही फल हैं। अंग्रेजी में क्नो का उच्चारण नो, क्नाइफ का नाइफ तथा टाल्क का टाक भी इसी का परिणाम है। सरलता या प्रयत्न—लाघव के लिए कुछ शब्द तो छोटे कर लिये जाते हैं, जैसे 'कब ही' से 'कभी', 'जब ही' से 'जभी' 'हास्तिन् मृग' से 'हस्ती' फिर 'हाथी' या बोलने में 'मास्टर साहब' का 'मास्साब', 'पंडित जी' का 'पंडी जी' 'जैराम जी की' का 'जैरम', 'मार डाला' का 'माड्डाला'। कुछ शब्द सरल बनाने के लिए बड़े कर लिए जाते हैं, जैसे प्रसाद से परसाद, कृष्णा से कन्हैया, स्कूल, स्नान से असनान, प्लेटो से अफलातून, ग्रहण से गरहन या गिरहन तथा उम्र से उमिर आदि, संक्षेप का प्रयोग, जैसे डी०एम०, एन०टी, भारत या सुदी आदि भी प्रयत्न—लाघव की दृष्टि से ही किया जाता है।

प्रयत्न—लाघव या मुख—सुख कई प्रकार से लाया जाता है, जिनमें **स्वर—लोप**, **व्यंजन—लोप**, **अक्षर—लोप** स्वरागम, व्यंजनागम, विपर्यय, समीकरण, विषमीकरण, तथा स्वतः **अनुनासिकता तथा कुछ अन्य प्रमुख हैं।** प्रयत्न—लाघव के अन्तर्गत आने वाले इन प्रधान तथा अन्य और प्रकारों का विस्तृत और सोदाहरण परिचय 'ध्वनिविज्ञान' अध्याय के अन्तर्गत आगे दिया गया है।

मानसिक स्तर— बोलने वालों के मानसिक स्तर में परिवर्तन होने से विचारों में परिवर्तन होता है, विचारों में परिवर्तन होने से अभिव्यंजना के ढंग में परिवर्तन होता है, और इस प्रकार भाषा पर भी प्रभाव पड़ता है। इसका स्पष्ट परिणाम अर्थ—परिवर्तन होता है, पर कभी—कभी ध्वनि पर भी असर देखा गया है।

अनुकरण की अपूर्णता— यह इस वर्ग का अन्तिम कारण है। पीछे कहा जा चुका है कि भाषा अर्जित सम्पत्ति है और उसका अर्जन मनुष्य अनुकरण के सहारे समाज से करता है। अनुकरण यदि पूर्ण हो तब तो व्यक्ति किसी शब्द को ठीक उसी प्रकार कहेगा, जैसे वह व्यक्ति कहता है जिसका कि वह अनुकरण कर रहा है, किन्तु प्रायः ऐसा होता नहीं। अनुकरण प्रायः अपूर्ण या बेठीक होता है। ध्वनि का अनुकरण सुनकर तथा उच्चारण—अवयवों की गति देखकर किया जाता है। वाक्य, अर्थ आदि का अनुकरण मानसिक रूप में समझ कर किया जाता है। होता यह है कि अनुकरण में अनुकर्ता क. कुछ भाषिक तथ्यों को तो छोड़ देता है तथा ख. कुछ को अपनी ओर से अनजाने ही जोड़ देता है। इस तरह अनुकरण में भाषा का परिवर्तन पनपता रहता है। जब एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी, भाषा का अनुकरण कर रही होती है, ध्वनि, शब्द, रूप, वाक्य, अर्थ—भाषा के पाँचों क्षेत्रों में इसी छोड़ने और जोड़ने के कारण परिवर्तन की प्रक्रिया तेजी से घटित होती रहती है।

आर०एम० पिडल (1926) तथा ए०डुरेफर (1927) ने कुछ स्थानों में इस बात का अनेक वर्षों तक बड़ी सूक्ष्मता से अध्ययन किया, और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यह परिवर्तन या विकास का सबसे बड़ा कारण है। समाज में मोटे रूप से तीन पीढ़ियाँ होती हैं। नवोदित जो 20—22 या 25 से कम उम्र के हैं, बहुत सक्रिय जो 20—23 या 25 से 30 वर्ष के बीच के होते हैं, और अस्तप्राय जो 60 से ऊपर के होते हैं। एक ही समाज में इन तीनों की भाषा में स्पष्ट अन्तर मिलता है। यद्यपि यह अन्तर यों देखने में बहुत अधिक नहीं होता और कई पीढ़ियों के बाद ही भाषा पर उनकी सुस्पष्ट छाप दिखाई पड़ती है। पीढ़ी—परिवर्तन के साथ, अनुकरण की अपूर्णता के अतिरिक्त यों अन्य कारण भी काम करते हैं, जैसे अन्य प्रभाव, बल देने के लिए या नवीनता के लिए नये प्रयोग या एक से अनेक या अनेक से एक करने की प्रवृत्ति आदि। जैसा कि कह चुके हैं, एक—दो पीढ़ी में तो इसका स्पष्ट पता नहीं चलता, पर जब आठ—दस पीढ़ी की भाषा की आठ—दस पीढ़ी बाद की भाषा से हम तुलना करते हैं, तो दोनों के अन्तर का पता साफ चल जाता है, और हमें यह मानने को बाध्य होना पड़ता है कि भाषा विकसित या परिवर्तित हो गयी है।

अनुकरण की अपूर्णता के लिए भी कई कारण हैं जिनमें निम्नलिखित मुख्य हैं—

शारीरिक विभिन्नता—ध्वनियों का उच्चारण अंगों के सहारे करते हैं और सब उच्चारण—अंग एक—से नहीं होते, अतएव उनका अनुकरण बिल्कुल पूर्ण नहीं हो पाता। सामान्यतः इस विभिन्नता के प्रभाव का पता नहीं चलता, पर कई पीढ़ी बाद जो परिवर्तन दिखाई पड़ता है, उनमें निश्चय ही इसका भी कुछ न कुछ हाथ रहता है।

ध्यान की कमी— इसके कारण भी अनुकरण अपूर्ण रह जाता है। इसका भी भाषा के विकास पर प्रभाव दस—बीस पीढ़ी के बाद ही स्पष्ट हो पाता है।

अशिक्षा— अशिक्षा तथा अज्ञान के कारण भी अनुकरण अपूर्ण रह जाता है। श का स, ष का स, ण का न तथा झ का च्छ या छ आदि मुख—सुख या प्रयत्न लाघव के अतिरिक्त अज्ञान या अशिक्षा के कारण भी हो जाते हैं। विदेशी शब्द सामान्य जनता में अज्ञान या अशिक्षा के कारण ही क्या से क्या हो जाते हैं। उदाहरणार्थ 'रैबिट' या 'रिबीट' या 'रिबिट', 'डाक्टर का डगडर', 'जमाना का जमाना', 'एंजिन या इंजन' या 'अंजन', 'मोहताज का मुस्ताज', 'लाइब्रेरी का रायबरेली' या 'लाबरेली', 'रिपोर्ट का रपट', 'गार्ड का गारद', 'ड्रिल का दलेल', 'इन्सपेक्टर का इसपट्टर', 'हू कस्स देयर' का 'हुकुमसदर', 'लार्ड का लाट', 'टाइम का टेम', 'सिगनल का सिंगल', 'दर्खास्त का दरखास', 'मास्टर का महटर' या 'महट्टर', 'कानूनगो का कानुनगोह', 'प्लाटून का पलटन', 'ज्वाइन का जैन', तथा 'काजी हाउस का काजीहौद' आदि देखे जा सकते हैं।

जानबूझकर परिवर्तन— भाषा में, कभी—कभी जानबूझकर भी उस भाषा के प्रबुद्ध बोलने वाले या लेखक आदि परिवर्तन कर देते हैं। प्रसाद ने 'अलेक्जैंडर' का 'अलक्षेन्द्र' कर दिया है। यह परिवर्तन स्वाभाविक नहीं है। इसी प्रकार अनेक देशज तथा विदेशी शब्दों का संस्कृत के साहित्यकारों ने संस्कृतीकरण किया है। जैसे 'अरबी' 'अफियून' का 'अहिफेन' या 'तुर्की' 'तुर्क' का 'तुरुष्क'। कभी—कभी उपयुक्त शब्द न मिलने पर लोग जान—बूझकर किसी मिलते—जुलते शब्द का नये अर्थ में प्रयोग कर देते हैं और शब्द यदि बहुत प्रचलित न रहा हो उस नये अर्थ में चल पड़ता है। जैसे 'ट्रैजेडी' से 'त्रासदी' या 'कमेडी'। अभिव्यक्ति में चमत्कार या नवीनता आदि लाने के लिए कलाकारों द्वारा निरंकुश प्रयोग भी भाषा में इन प्रकार के परिवर्तन ला देता है।

जातीय मनोवृत्ति— हर जाति की अपनी मनोवृत्ति होती है, और भाषा उसके अनुसार परिवर्तित होती है। यही कारण है कि एक ही भाषा दो या अधिक जातियों में प्रचलित होकर दो या अधिक प्रकार से विकसित या परिवर्तित होती है। एक जातीय मिश्रण ग्रिम नियम के प्रथम वर्ण-परिवर्तन का कारण बना, दूसरा दूसरे का।

बाह्य वर्ग—

भौतिक वातावरण— भाषा पर इसका सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है। एक भाषा के अन्तर्गत अनेक बोलियाँ या एक परिवार में अनेक भाषाएँ मूलतः इसी कारण से बन जाती हैं। भौतिक वातावरण का प्रभाव कई प्रकार से पड़ सकता है।

1. गर्मी और सर्दी के अधिक या कम होने से जीविका, स्वभाव, रहन-सहन, आचरण आदि पर प्रभाव पड़ता है और भाषा इन सभी पर आधारित है।
2. मैदान आदि में दूर तक लोग सम्पर्क रख पाते हैं, अतः भाषा में एकरूपता बनी रहती है। पर, पहाड़ी भागों में या अन्य ऐसे भागों में, जहाँ आने-जाने की सुविधा कम है, या है ही नहीं, लोग अलग-अलग रहने के आदी हो जाते हैं। फल यह होता है कि उनकी भाषा का अलग-अलग विकास होता है और कई भाषाओं या अनेक बोलियों का विकास हो जाता है। इसी कारण पहाड़ों पर बोली थोड़ी-थोड़ी दूरी पर थोड़ी-बहुत अवश्य बदल जाती है। बड़ी नदियों के किनारों की बोली में भी इसी कारण कुछ अन्तर दिखाई देता है। ग्रीस में ऐसे ही कारणों से नगर-जनपद की प्रथा चल पड़ी। फल यह हुआ कि वहाँ बोलियों की भरमार हो गयी।
3. भूमि उपजाऊ है तो खाद्य-सामग्री की कमी न रहेगी और फल यह होगा कि लोगों को उन्नति करने का समय मिलेगा, अतः उन लोगों की भाषा में, अनुपजाऊ भूमि में रहने वालों की अपेक्षा संस्कार अधिक होगा। वे लोग गूढ़ विषयों पर सोचेंगे, अतः उसकी अभिव्यंजना के लिए उनकी भाषा गम्भीर होती जायेगी, जैसा कि भारत या यूनान आदि में हुआ है। इसके विरुद्ध पहाड़ी या जंगली लोगों की भाषा में इस प्रकार का विकास नहीं होता। इस तरह उपजाऊ भूमि के कारण भाषा के परिवर्तन एवं विकास को बल मिलता है।

सांस्कृतिक प्रभाव— संस्कृति समाज का प्राण है, अतः उसका भी प्रभाव भाषा पर पड़ता है और उसके कारण भाषा में विकास होता है। इसके अन्तर्गत भी प्रभाव कई प्रकार का हो सकता है।

1. सांस्कृतिक संस्थाएँ प्राचीन शब्दों को एक बार फिर ला देती हैं, साथ ही विचार में भी परिवर्तन कर देती हैं, जिससे अभिव्यक्ति की शैली आदि प्रभावित होती है। 19वीं सदी के अन्त और बीसवीं सदी के आदि की भाषा पर आर्य समाज आदि के कारण संस्कृत शब्द अपने तत्सम रूप में इतने अधिक घुस आये हैं कि कहने की आवश्यकता नहीं।
2. व्यक्ति— महान् व्यक्तियों का भी भाषा पर प्रभाव पड़ता है। गोस्वामी तुलसीदास ने उत्तरी भारत की भाषा, उसके समाज तथा धर्म सभी को यथेष्ट प्रभावित किया है। कितने शब्दों को उन्होंने मूल रूप में या कविता में तुक आदि के लिए कुछ तोड़कर रखा और वे चल पड़े। उनके बाद की कविता की शैली भी उनसे प्रभावित हुई थी। इसी प्रकार गाँधी जी के कारण हिन्दी की हिन्दुस्तानी शैली को काफी बल मिला।
3. संस्कृतियों का सम्मिलन— व्यापार, राजनीति तथा धर्म—प्रचार आदि के कारण कभी—कभी दो संस्कृतियों का सम्मिलन होता है। इसका भी भाषा के विकास या परिवर्तन पर प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए, भारत ही को लें। यहाँ इस प्रकार के कई सम्मिलन हुए जिनमें कम से कम पाँच अधिक महत्वपूर्ण हैं—

1. आस्ट्रिकों और द्रविड़ों का।
2. द्रविड़ों और आर्यों का।
3. आर्यों और यवनों का
4. भारतीयों और मुसलमानों का।
5. भारतीयों और यूरोप वालों का।

इन संस्कृतियों के सम्मिलन से भाषा पर दो प्रकार के प्रभाव सम्भव होते हैं—

अप्रत्यक्ष—जैसे शब्दों की लेन—देन—आज हमारी भारतीय भाषाओं में उपर्युक्त सभी संस्कृतियों के शब्द हैं। हिन्दी में ही आस्ट्रिकों के गंगा आदि, द्रविड़ों के तीर, आलि, मीन आदि यवनों के होड़ा, दाम, सुरंग आदि तुर्कों एवं मुसलमानों के पायजामा, बाजार, दूकान, कागज, कलम, सन्दूक, किताब, तकिया, रजाई आदि तथा यूरोपियनों के खेल, न्याय और फैशन आदि सम्बन्धी, हाकी, टेनिस, कॉलर, टाई, पेंसिल, बटन, फ्रेम, डिग्री, साइकिल, मोटर, रेल, स्टेशन,

निब, कोट, कलक्टर तथा पेन, आदि हजारों प्रचलित हैं। हिन्दी में इस प्रकार के शब्दों की ठीक से छानबीन की जाय तो इनकी संख्या आठ हजार से कम न होगी।

ध्वनि का आना—मूल योरोपीय भाषा में टवर्गीय ध्वनि नहीं थीं, पर भारत में आने पर कदाचित् द्रविड़ों के प्रभाव से आर्यभाषा में ये ध्वनियाँ आ गईं और आज सभी ध्वनियों की भाँति इसका भी प्रयोग होता है। हिन्दी भाषा में मुसलमानों तथा अंग्रेजों के सम्पर्क से कई नवीन ध्वनियाँ आ गई हैं, जैसे क, ज़, ग, ख, फ़ तथा ऑ।

वाक्य—गठन, मुहावरे, लोकोक्ति तथा अभिव्यक्ति की शैली भी विदेशी भाषाओं से प्रभावित होती है। उदाहरणार्थ, हिन्दी इसी दृष्टि से फारसी, अंग्रेजी आदि से पर्याप्त प्रभावित है। पानी—पानी होना' मूलतः फारसी' आब—आब शुदन' का अनुवाद है तो कार्य रूप में परिणत करना'।

अप्रत्यक्ष—विचार—विनिमय के कारण एक—दूसरे का साहित्य, कला आदि पर भी प्रभाव पड़ता है और उससे भी भाषा अछूती नहीं रहती।

समाज की व्यवस्था— सामाजिक व्यवस्था के कारण समाज में शान्ति या अशान्ति रहती है और उसका भी जीवन के प्रत्येक अंग पर प्रभाव पड़ता है। यह प्रभाव घूम—फिर कर भाषा पर भी पड़ता है। युद्ध या क्रान्ति में भाषा में विशेष रूप से ध्वनि—परिवर्तन होते हैं। लोगों के पास इतना समय नहीं रहता और न शान्ति ही रहती है कि उच्चारण पूर्णरूपेण करें। संकेत से अधिक काम लेना पड़ता है। आधुनिक काल में समय कम होने के कारण ही अनेक प्रचलित शब्दों के संक्षिप्त रूप बनाये गये हैं। हम कृ०प०उ० लिखकर कृपया पृष्ठ उलटिए का काम चला लेते हैं, पूरा नाम न कह कर शर्मा, वर्मा और तिवारी ही कहा जाता है। सी०आई०डी,वी०सी०,डी०एम० नेफा, पेप्सू तथा यूनेस्को आदि भी इसी प्रकार के संक्षिप्त रूप हैं।

बोलने वालों की उन्नति—बोलने वालों की उन्नति वैज्ञानिक या अन्य क्षेत्रों में होती है तो भाषा में भी परिवर्तन होता है। यह परिवर्तन दो रूपों में हो सकता है। एक तो नयी उन्नति के अनुरूप नयी अभिव्यक्तियों के लिए भाषा में कुछ नयी चीजें—मशीन, वस्त्र, खाना, मनोरंजन आदि आ जाते या आविष्कृत हो जाते हैं, तो उनके लिए नये शब्द आ जाते हैं। भारत इधर दिन—पर—दिन उन्नति करता जा रहा है, अतः उसकी भाषाओं में बड़ी तेजी से नये शब्द आते जा रहे हैं। यदि कोई देश उसके उल्टे बहुत अवनति करने लगे और खाने को मुहताज हो

जाये तो अत्यधिक आराम की बहुत-सी चीजें लुप्त हो जायेगी, और यदि स्थिति बदली नहीं तो उनके प्रसंग में प्रयुक्त शब्द भी लुप्त हो जायेगे।

सादृश्य

कहते हैं खरबूजे को देखकर खरबूजा रंग बदलता है। इसी प्रकार भाषा में भी शब्द या वाक्य दूसरे शब्द या वाक्य की सदृशता पर उसी प्रकार के बन जाते हैं। इस प्रकार इसका भी भाषा के विकास या परिवर्तन में बहुत बड़ा हाथ है। इसे उपर्युक्त आभ्यन्तर और बाह्य किसी एक वर्ग में नहीं रखा जा सकता, क्योंकि यह दोनों में आता है। आज की हिन्दी की वाक्य रचना बहुत से लेखकों में अंग्रेजी के सादृश्य पर मिलती है। यह बाह्य है। दूसरी और पाश्चात्य के सादृश्य पर पौरात्य शब्द चल रहा है, एकदश' द्वादश के सादृश्य पर एकादश' हो गया है, या निर्गुण' के सादृश्य पर सगुण' सर्गुण' या सर्गुन' हो गया है। यह आभ्यन्तर है। इसी प्रकार अनेक अन्य उदाहरण भी लिये जा सकते हैं।

भाषा के विकास के सम्बन्ध में अन्तिम बात यह कह देनी आवश्यक है कि भाषा के विकास का आशय यह नहीं कि भाषा, और अच्छी या ऊँची होती जाती है। विकास का अर्थ केवल आगे बढ़ना या परिवर्तन है। परिवर्तन से भाषा अभिव्यंजना-शक्ति, माधुरी तथा ओज आदि की दृष्टि से भी उठ सकती है और नीचे भी जा सकती है। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वह प्रायः सरलता की ओर जाती है।

भाषा-परिवर्तन : की दिशाएँ (स्वरूप और प्रवृत्तियाँ)

परिवर्तन इस सृष्टि का नियम है। यहाँ की प्रत्येक वस्तु परिवर्तित रहती है, और भाषा भी उसका अपवाद नहीं। भाषा का प्रयोक्ता मनुष्य और उसका समाज परिवर्तित होता रहता है और उसके साथ-साथ उसके द्वारा प्रयुक्त भाषा भी परिवर्तित होती रहती है। भाषा के पाँच अंग हैं :

क. ध्वनि, ख. शब्द, ग. रूप, घ. वाक्य, ड. अर्थ। यही पाँच प्रमुख अंग ही भाषा परिवर्तन की प्रमुख पाँच दिशाएँ हैं।

भाषा परिवर्तन इन्हीं पाँचों स्तर पर होता है, जिन्हें ध्वनि-परिवर्तन, शब्द समूह परिवर्तन, रूप रचना परिवर्तन, वाक्य रचना-परिवर्तन तथा अर्थ-परिवर्तन कहते हैं। इस प्रसंग में इन पाँच के अतिरिक्त दो और का भी उल्लेख किया जा सकता है। एक है स्वन प्रक्रिया-परिवर्तन

जो ध्वनियों के ही अध्ययन में आता है तथा दूसरा है **रूप प्रक्रिया-परिवर्तन** जो रूपों में होता है। इस तरह सामान्यतः **कुल सात प्रकार के परिवर्तन** होते हैं। यों लिपि में भी परिवर्तन होता है किन्तु लिपि भाषा का अंग नहीं है, अतः उसे यहाँ नहीं लिया जा रहा है।

स्वरूप

जहाँ तक भाषा में परिवर्तन के स्वरूप का प्रश्न है, वह प्रत्येक स्तर पर अलग-अलग होता है, यही नहीं, ध्वनि-परिवर्तन तथा स्वन प्रक्रिया-परिवर्तन या रूप रचना-परिवर्तन और रूप प्रक्रिया-परिवर्तन का भी स्वरूप एक नहीं है, अतः सभी को अलग-अलग शीर्षकों में लिया जा रहा है।

ध्वनि-परिवर्तन- ध्वनि-परिवर्तन से आशय है किसी ध्वनि का बदलकर कुछ से कुछ हो जाना जैसे 'घोटक' से 'घोड़ा' बनने में 'ट' परिवर्तित होकर 'ड़' हो गया है या 'दधि' से 'दही' बनने में 'ध' परिवर्तित होकर 'ह' हो गया है। ध्वनि-परिवर्तन को स्वरूप के आधार पर मुख्यतः निम्नांकित नौ वर्गों में रखा जा सकता है-

लोप-

लोप से आशय है ध्वनि शब्द में पहले से हो, उसका लुप्त हो जाना। जैसे 'सप्त' से 'सात' बनने में 'प' का लोप हो गया है। लोप कई प्रकार के होते हैं-

स्वर-लोप : आदि स्वर-लोप- अभ्यंतर-भीतर, एकादश-ग्यारह। मध्य स्वर-लोप-उच्चारण में 'लगभग' का 'लगभग', 'कपड़ा' का 'कपड़ा' तथा 'गमला' का 'गम्ला' हो गया है। इन सभी में मध्य स्वर लोप है। अंत्य स्वर-लोप- आप, तुम, हम, सब आदि उच्चारण में आप, तुम, तथा सब हो गये हैं, अर्थात् अन्तिम 'अ' इनमें से निकल गया है।

व्यंजन-लोप : आदि व्यंजन-लोप- स्थाली-थाली, हास्पिटल-अस्पताल, स्कंध-कन्धा। मध्य व्यंजन-लोप-सप्त-सौत, कोकिल-कोयल। अंत्य व्यंजन-लोप- बम, कमान।

आगम

आगम' से आशय है किसी ऐसी ध्वनि का आ जाना जो पहले से शब्द में न हो। उदाहरण के लिए 'सूर्य' 'सूरज' में 'र' के बाद 'अ' आ गया है तो 'डजन' से 'दर्जन' में 'र' आ गया है। आगम कई प्रकार को होता है।

स्वरागम : आदि स्वरागम— यूनानी लातोन—अफ़लातून, रनान—अवधी—अस्नान। स्कूल, स्टेशन, स्टूल, स्प्रिंग को काफी लोग इस्कूल, इस्टेशन, इस्टूल, इस्प्रिंग बोलते हैं। मध्य स्वरागम—सूर्य—सूरज, पूर्व—पूरब। अंत्य स्वरागम—दवा—दवाई।

व्यंजनागम : आदि व्यंजनागम— ओष्ठ—होंठ, अस्थी—हड्डी, अंसलि—हंसली। मध्य व्यंजनागम—शाप—श्राप, पण—प्रण, समुद्र—समुन्दर।

विपर्यय

विपर्यय से आशय है किसी शब्द में दो ध्वनियों का एक—दूसरे के स्थान पर चले जाना। उदाहरण के लिए चिह्न का चिन्ह में ह' और न' में विपर्यय हो गया। विपर्यय कई प्रकार का होता है।

1. **पाश्ववर्ती विपर्यय—** पास—पास की ध्वनियों में विपर्यय, जैसे चिह्न—चिन्ह, ब्रह्म—ब्रम्ह, ब्राह्मण—ब्राम्हन।
2. **दूरवर्ती—विपर्यय—** वाराणसी—बनारस, लखनऊ—नखनऊ।
3. **आद्यशब्दांश विपर्यय—** कभी—कभी दो शब्दों के आरम्भ के अंशों में विपर्यय हो जाता है, जैसे घोड़ागाड़ी का गोड़ा—घाड़ी। बोलने में कुछ लोगों की ऐसी आदत—सी पड़ जाती है। ऑक्सफोर्ड के डॉ० डब्ल्यू ए० स्पूनर से यह विपर्यय अधिकतर हो जाता था, अतः उन्हीं के नाम पर इसे स्पूनरिज्म कहते हैं। हिन्दी में उदाहरण के लिए कड़ी बिताब', चाल दावल' आदि लिये जा सकते हैं। किसी से पूछा आपकी बड़ी में क्या बजा है? उत्तर था— चौ बजकर ना लिस मिनट।

समीकरण

कभी—कभी किसी शब्द में दो पास—पास की असमान ध्वनियाँ समान हो जाती हैं। यह प्रवृत्ति भाषा परिवर्तन में समीकरण कहलाती है। समीकरण दो प्रकार का होता है—

1. **पुरोगामी समीकरण—** इसमें कोई ध्वनि आगे बढ़कर असमान व्यंजन को अपने समान बना लेती है। जैसे चक्र—चक्की, पत्र—पत्ता।
2. **पश्चगामी समीकरण—** इसमें कोई ध्वनि पीछे जाकर असमान व्यंजन को अपने समान बना लेती है। जैसे धर्म—धम्म, शर्करा—शक्कर।

स्वतः अनुनासिकता

कभी-कभी किसी शब्द में किसी नासिक्य व्यंजन से अनुनासिकता का विकास होता है। जिसे सकारण अनुनासिकता की संज्ञा दी जा सकती है। जैसे कम्पन काँपना या चन्द्र-चाँद। इसके विपरीत कभी-कभी बिना किसी नासिका व्यंजन के भी अनुनासिकता का विकास हो जाता है, जिसे स्वतः अनुनासिकता कहते हैं। उदाहरणार्थ : सर्प-साँप, श्वास-साँस, भ्रू-भौं।

ह्रस्वीकरण

दीर्घ स्वर का ह्रस्व हो जाना। जैसे आसाढ़-असाढ़, आभीर-अहीर, आगस्ट-अगस्त।

दीर्घीकरण-

ह्रस्व स्वर का दीर्घ हो जाना। जैसे सप्त-सात, दुग्ध-दूध, अष्ट-आठ।

घोषीकरण

अघोष व्यंजन का घोस हो जाना। जैसे-शाक-साग, कंकण-कंगन, घोटक-घोड़ा।

महाप्राणीकरण

अल्प प्राण व्यंजन का महाप्राण हो जाना। जैसे शुष्क-सूखा, हस्त-हाथ, परशु-फरसा।

कारण- ध्वनि-परिवर्तन मुख्यतः निम्नांकित कारणों से होता है-

ध्वनियों का परिवेश- कभी-कभी आस-पास की ध्वनियों के कारण कोई ध्वनि परिवर्तित हो जाती है। उदाहरण के लिए नासिका व्यंजन के पास होने पर मौखिक स्वर अनुनासिक हो जाते हैं। इसीलिए 'हनुमान' का उच्चारण 'हनुमान' तथा 'कान' का कान होता है। ऐसे ही यदि किसी अघोष व्यंजन के दोनों ओर घोष ध्वनि हो तो ऐसा कई बार देखा जाता है कि अघोष व्यंजन घोष हो जाता है। जैसे 'शाक' का 'साग'।

मुख-सुख या प्रयत्न-लाघव- यदि कोई संयुक्त व्यंजन उच्चारण में कठिन हो तो उच्चारण में मुख के सुख के लिए या बोलने के प्रयत्न में आसानी के लिए या तो उसका एक व्यंजन लुप्त कर देते हैं या क्रम बदल देते हैं।

भ्रामक व्युत्पत्ति- कभी-कभी जनता किसी अपरिचित शब्द को अपना परिचित शब्द मानकर बैठती है और उस नये शब्द का उच्चारण अपने परिचित शब्द के रूप में करने लगती है। इसे अंग्रेजी में पापुलर इथामोलॉजी नाम दिया गया, उसी का अनुवाद भ्रामक या लौकिक व्युत्पत्ति है। आशय यह है कि लोग दोनों शब्दों को एक या व्युत्पत्तितः एक मानने की गलती कर बैठते

हैं। उदाहरण के लिए क्रिसमस डे' का किसमिस डे', बाहलूगंज' का बालूगंज, हीराकुंद' का हीराकुंड', का सैंसठ-पैंसठ, प्लीट का प्लेट' आदि।

सादृश्य— कुछ शब्द किसी दूसरे के सादृश्य के कारण अपनी ध्वनियों का परिवर्तन कर लेते हैं। पैतिस' के सादृश्य पर सैंतिस' में अनुनासिकता आ गयी है। संस्कृत में द्वादश' के सादृश्य पर एकादश' भी एकादश हो गया। मुञ्ज का उकार तुञ्ज के सादृश्य से है। ऐसे ही देहात से देहाती' के सादृश्य पर शहर' से शहराती' हो गया है।

लेखन— लेखन के कारण भी ध्वनियों में परिवर्तन हो जाता है। उदाहरण के लिए अंग्रेजी में गुप्त, मित्र आदि लिखने में अन्त में ए लिखने का प्रभाव पड़ा है कि लोग न केवल गुप्ता, मित्रा, मिश्रा आदि कहने लगे हैं, अपितु हिन्दी में भी वही लिखने लगे हैं। आश्चर्य तो यह है कि इसी से प्रभावित होकर लोग बुद्ध' और बुद्ध' और अशोक' के स्थान पर बुद्धा और का भी प्रयोग करते सुने जाते हैं।

स्वनक्रिया परिवर्तन

जैसा कि हमने देखा, ध्वनि-परिवर्तन में किसी ध्वनि में परिवर्तन हो जाता है किन्तु स्वनप्रक्रियात्मक परिवर्तन में भाषा की स्वनिम व्यवस्था परिवर्तित हो जाती है। उदाहरण के लिए संस्कृत में स, श, ष तीन अलग-अलग स्वनिम थे। प्राकृतों में आकर परिवर्तन हुआ। कुछ प्राकृतों में तो ये तीनों रहे किन्तु एक तरफ मागधी में केवल एक श' रहा, तो दूसरी और शौरसेनी प्राकृत में केवल स' रहा। इस तरह मागधी में भी कुल स्वनिमों में दो की कमी हो गयी तथा शौरसेनी में भी। अर्थात् इन दोनों की स्वन-व्यवस्था में बदलाव आया। इसी तरह 1920 के आस-पास हिन्दी में बहुत सारे शब्द अपने लगभग मूलरूप में फारसी तथा अंग्रेजी से आये तो सुशिक्षित हिन्दी-भाषियों की हिन्दी की स्वनिम-व्यवस्था बदली क्योंकि छः नये स्वनिम क ख ग फ़ ऑ उसमें आ गये। कहना न होगा इन छहों में न्यूनतम विरोधी युग्म हिन्दी में उपलब्ध है—

ताक ताक

खाना खाना

बाग बाग

राज राज

फन फ़न
काफी काफी

इधर स्वतन्त्रता के बाद जब से हिन्दी वालों के लिए उर्दू अनिवार्य विषय नहीं रही, क का प्रयोग समाप्त सा हो गया तथा अब इन छः में केवल ख, ग, ज, फ़ ही स्वनिमिक हैं तथा इनमें भी लगता है कि आगे चलकर केवल ज़ तथा फ़ ही रह जाएँगे, क्योंकि ये फारसी तथा अंग्रेजी दोनों शब्दों में भी हैं।

इस तरह स्वनप्रक्रियात्मक परिवर्तन मुख्यतः दो रूपों में होता है—

क. पुराने स्वनिम का लोप

ख. नये स्वनिम का आगम यों यदि गहराई से देखे तो कुछ और प्रकार के परिवर्तन भी मिलते हैं। उदाहरण के लिए संस्कृत के स्वरमध्यम ङ; हिन्दी में आकर ङ़ हो गये। घोटक—घोड़ा, घोटिका—घोड़ी, घटिका—घड़ी। इस तरह संस्कृत में जहाँ ङ़ का मुख्य उपस्वन ङ़ ही था, वहाँ हिन्दी ङ़ भी हो गया—

ङ़ स्वरों के मध्य में तथा शब्दांत में

ङ़ अन्यत्र

अब यदि अंग्रेजी के सोडा, रोड, रेडियो जैसे शब्दों को हिन्दी का अंग मान लें तो घोड़ा—सोडा, मोड़—रोड जैसे शब्द उपन्यूतम विरोधी युग्म हैं, इस तरह ङ़ को हिन्दी का अलग स्वनिम मानने की स्थिति आ गई है।

रूप—परिवर्तन

भाषाओं में रूपरचना में भी परिवर्तन होता रहता है, यद्यपि ध्वनि—परिवर्तन तथा शब्द समूह— परिवर्तन की तुलना में यह कम होता है। उदाहरण के लिए 1950 तक 'मुझे', तथा 'मुझको', 'तुझे' तथा 'तुझको' जैसे रूप ही चलते थे, अब 'मेरे को', 'तेरे को' जैसे रूप भी काफी चलने लगे हैं, यद्यपि अभी ऐसे रूपों को मानक का दर्जा नहीं दिया गया है। ऐसे ही पहले 'गाय' के बहुवचन गायें की तरह 'इन्द्रियों' से 'इन्द्रियें' रूप चलता था, अब 'इन्द्रियाँ' चलने लगा है तथा 'इन्द्रियों' का प्रयोग समाप्त हो गया है।

स्वरूप की दृष्टि से रूप परिवर्तन मुख्यतः निम्नांकित प्रकारों का होता है—

1. रूप बनाने वाले पुराने रूपिम के स्थान पर नए रूपिम का प्रयोग। जैसे संस्कृत— म् के स्थान पर हिन्दी में को' या स्य' के स्थान पर का' का प्रयोग।
2. पुराने मूल के स्थान पर नए मूल का प्रयोग। उदाहरण के लिए पहले मुझको' चलता था, अब नई पीढ़ी में मेरे को' सुनने में आता है। यहाँ मुझ' के स्थान पर मेरे' आ गया है। संबंधघोतक को' ज्यों का त्यों है। ऐसे ही पहले पहले कीजिए' चलता था अब करिए' भी चलता है। इसमें इए' प्रत्यय तो ज्यों का त्यों है, कीज्' के स्थान पर कर्' आ गया है।
3. मूल तथा प्रत्यय दोनों में परिवर्तन। उदाहरण के लिए अंग्रेजी में गो का भूतकाल का रूप पहले गोड तथा वेन्ड का वेन्ट। अब गो का गोड के स्थान पर भूतकाल वेन्ट मान लिया गया है, इस तरह रूपपरिवर्तन हो गया है।
4. अतिरिक्त रूपिम का प्रयोग। उदाहरण के लिए दर असल' का अर्थ है असल में', अर्थात् दर' में अर्थ का वाचक है। जो लोग इस बात से परिचित नहीं हैं वे दर असल में' का प्रयोग करते हैं। इस तरह दर' के ही अर्थ में में' एक अतिरिक्त रूपिम आ गया है।

रूपप्रक्रिया—परिवर्तन

हिन्दी में 'स्वनप्रक्रिया' का प्रयोग किसी भाषा की स्वनिमों तथा उपस्वनों की व्यवस्था के लिए अंग्रेजी 'फ़ेनालजी' के अर्थ में चलता है। उसी आधार पर यहाँ रूपिमों तथा उपरूपों की व्यवस्था के लिए 'रूप प्रक्रिया' शब्द का प्रयोग किया जा रहा है। संस्कृत से हिन्दी के विकास पर दृष्टि डालें तो रूपप्रक्रिया—परिवर्तन का एक रोचक उदाहरण मिलता है। संस्कृत में 'जाना' अर्थ में 'या' और 'गम्' दो धातुएँ थीं। हिन्दी के 'गया, गई, गए' रूप संस्कृत 'गम्' के रूप से ही विकसित हैं तथा 'जाता आदि' 'या' के रूप से। अब हिन्दी में एक ही धातु 'जा' से ये सभी रूप बने माने जाते हैं। इस तरह मूल व्यवस्था बदल गयी है। ऐसे ही अंग्रेजी में 'गो' का भूतकाल का रूप 'वेन्ट' माना जाता है, जब कि वास्तविक यह है कि यह अंग्रेजी की एक पुरानी धातु 'वेन्ड' का भूतकाल है। यह 'वेन्ड' धातु अब प्रयोग में ही है। ऐसे ही पहले हिन्दी उत्तम पुरुष एकवचन के रूप में, 'मुझ, मेरे' इन तीन पर आधारित थे, अब नई पीढ़ी

में मेर् से ही सभी रूप बनने लगी हैं तथा 'उसके' रूप हिन्दी सर्वनाम की रूप व्यवस्था से निकलते जा रहे हैं।

स्पष्ट ही ऐसे परिवर्तनों का कारण कुछ का लोप है। एक में कल्पित धातु 'ग' जिससे मूलतः 'गया बना है' का लोप हो गया है तो दूसरे में 'वेन्ड का तथा तीसरे में 'मुझ' का। ऐसे ही 'तुझ' के लोप से तेरे को, तेरे से जैसे रूपियों का विकास हो गया है।

वाक्य रचना—परिवर्तन

जैसे भाषा में ध्वनि शब्दसमूह तथा रूपरचना आदि में परिवर्तन होता है, उसी तरह उसकी वाक्य—रचना भी परिवर्तित होती रहती है। उदाहरण के लिए हम जानते हैं कि हिन्दी भाषा पालि, प्राकृत, अपभ्रंश संस्कृत से विकसित हुई है, किन्तु हिन्दी वाक्य—रचना से कई बातों में भिन्न है, इस तरह धीरे—धीरे भाषा की वाक्य—रचना परिवर्तित हुई है। जैसे हिन्दी में

'और' का प्रयोग दो संज्ञाओं आदि के बीच में होता है, परन्तु संस्कृत में ऐसा नहीं है। उसमें या तो 'च' दूसरे के अंत में आता है या दोनों के बीच में भी और अंत में भी। इस तरह

'और' युक्त वाक्यों की रचना में बदलाव आया है। स्वरूप की दृष्टि से किसी भाषा की वाक्य—रचना में परिवर्तन कई प्रकार का होता है, जिनमें से कुछ मुख्य निम्नांकित हैं—

अन्वय परिवर्तन—

कभी—कभी ऐतिहासिक विकास के साथ—साथ भाषा की अन्वय—व्यवस्था में परिवर्तन हो जाता है। उदाहरण के लिए हिन्दी का विकास प्राकृतों के माध्यम से संस्कृत से हुआ है किन्तु संस्कृत भाषा की अन्वय—व्यवस्था से हिन्दी की अन्वय—व्यवस्था बहुत भिन्न है। जैसे संस्कृत में सभी विशेषणों और उनके विशेष्यों में व्याकरणिक एकरूपता होती है, किन्तु हिन्दी में ऐसा नहीं होता है। ऐसे ही कर्ता और क्रिया में हिन्दी में लिंग की दृष्टि से भी व्याकरणिक एकरूपता होती है किन्तु संस्कृत में दोनों के लिए एक ही क्रिया और गच्छति, सीता आती है। हिन्दी में इस सदी के मध्य तक स्त्रियाँ और लड़कियाँ कहती रही हैं 'हम लोग जा रही हैं', अब कहने लगी हैं 'हम लोग जा रहे हैं।' मध्यकाल से हिन्दी में एकवचन के स्थान पर आदर औपचारिकता के लिए बहुवचन का प्रयोग ही अन्वय—परिवर्तन का अच्छा उदाहरण है। यह परिवर्तन संज्ञा, सर्वनाम, विशेष क्रिया और क्रियाविशेषण सभी को प्रभावित करता है—

क. किसान का छोटा बेटा दौड़ता है।

ख. मुख्यमंत्री से छोटे बेटे दौड़ते आये।

ग. उसे बुलाओ।

घ. उन्हें बुलाओ।

पदक्रम में परिवर्तन

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि समय के अन्तराल से वाक्य में पदों का क्रम बदल जाता है। हिन्दी में कर्ता पहले आता है, कर्म उसके बाद तथा क्रिया अन्त में, किन्तु संस्कृत में ऐसा कुछ निश्चित नहीं था। इस प्रकार संस्कृत भाषा की पदक्रम-व्यवस्था हिन्दी तक आते-आते बदल गई है। वस्तुतः सामान्यतः संयोगात्मक भाषाओं में पदक्रम में काफी छूट रहती है किन्तु धीरे-धीरे जैसे-जैसे भाषा वियोगात्मक होती जाती है, उसके वाक्यों में पदक्रम निश्चित-सा हो जाता है। अंग्रेजी में भी यही स्थिति है, यद्यपि जर्मनिक जिससे अंग्रेजी का विकास हुआ, बहुत निश्चित पदक्रम वाली भाषा नहीं थी।

पुरुष में परिवर्तन-

वाक्य-रचना में कभी-कभी पुरुष की दृष्टि से भी परिवर्तन होता देखा गया है। उदाहरण के लिए हिन्दी में प्रयोग चलता रहा है।

राम ने कहा, मैं जाऊँगा। अंग्रेजी के प्रभाव से अब कुछ लोग प्रयोग करने लगे हैं- राम ने कहा कि वह जाएगा। यह 'मैं' का 'वह' तथा 'जाऊँगा' का 'जाएगा' में पुरुष-परिवर्तन स्पष्ट है।

लोप- सुविधा के लिए धीरे-धीरे प्रायः सभी भाषाओं के वाक्यों में ऐसे घटक लुप्त हो जाते हैं जिनके बिना अर्थ की दृष्टि से वाक्य में अस्पष्टता आने का भय नहीं रहता। नीचे 'क' पुरानी हिन्दी के वाक्य हैं तथा 'ख' आधुनिक हिन्दी के-

क. राम नहीं जाता है।

ख. राम नहीं जाता।

ग. राम नहीं जा रहा है।

घ. राम नहीं जा रहा।

ड. आँखों से देखी घटना।

च. आँखों देखी घटना।

छ. कानों से सुनी बात।

ज. कानों सुनी बात।

कहना न होगा कि मोटे पाइप के है' तथा से' अब लुप्त हो गये हैं।

आगम—कभी—कभी वाक्य में कुछ ऐसे शब्दों का आगम हो जाता है जो पहले न अपेक्षित थे न प्रयुक्त होते थे। उदाहरण के लिए पहले प्रयोग चलता था— राम ने कहा— मैं जाऊँगा।

फ़ारसी में ऐसी रचना में कि' का प्रयोग होता है, उसके प्रभाव से अब कहते हैं— राम ने कहा कि मैं जाऊँगा, राम ने कहा कि वह जायेगा।

यहाँ कि' का आगम हो गया है।

ऐसे ही आइए, आइएगा जैसे रूपों में आदर सूचकता है, किन्तु अब अंग्रेजी प्लीज के प्रभाव से कृपया', कृपा' करके', मेहरबानी करके' जैसे पद या पदबंध जोड़े जाने लगे हैं— कृपया आइए', मेहरबानी करके आइएगा।

कारण—

वाक्य रचना में परिवर्तन के मुख्य कारण निम्नांकित तीन हैं—

ध्वनि परिवर्तन—

ध्वनि—परिवर्तन के कारण रूपों से संबंध तत्त्वों का प्रायः लोप होता रहता है, जिसके कारण रूपों में अस्पष्टता आ जाती है तथा उसे बचाने के लिए भाषा—भाषी तरह—तरह के तरीके अपनाते हैं जिसके कारण रूप—रचना तथा वाक्य—रचना दोनों में परिवर्तन होता है। हिन्दी या अंग्रेजी आदि वियोगात्मक भाषाओं में वाक्य में पदों के क्रम की निश्चितता इसी का परिणाम है।

अन्य भाषाओं का प्रभाव—

इसके कारण भी किसी भाषा की वाक्य—रचना में परिवर्तन आता है। पीछे हम देख चुके हैं कि हिन्दी पर मध्यकाल में फ़ारसी तथा आधुनिक काल में अंग्रेजी का प्रभाव पड़ा है तथा

कि' और अप्रत्यक्ष कथन के प्रयोग की दृष्टि से हिन्दी की वाक्य—रचना प्रभावित हुई है।

उच्चारण सुविधा—

उच्चारण की सुविधा परिवर्तन की जननी तो होती ही है, यह वाक्य रचना में भी परिवर्तन की जननी होती है। वस्तुतः कम से कम प्रयास से बोलना हमारे लिए स्वभाविक ही

है। यदि इसके कारण एक ओर 'चिन्ह' का उच्चारण 'चिह्न' हो गया तो दूसरी ओर 'संयुक्त विधायक दल' से 'संविद' या 'आंतरिक सुरक्षा कानून' का आंसुका भी इसी कारण हुआ है। शब्द जितना छोटा होता है, उसके उच्चारण में उतनी ही सुविधा होती है। लिखने में 'कृपया पृष्ठ उलटिए' कृ०३० भी इसीलिए लिखा जाता है। इसी प्रकार वाक्य जितना छोटा होता है, उसका उच्चारण उतना ही सुविधाजनक होता है। इसीलिए हम भरसक छोटे से छोटा वाक्य प्रयुक्त करना चाहते हैं। बातचीत में प्रायः इसी उद्देश्य से छोटे वाक्यों का प्रयोग चला होगा। यदि पुराना रूप रहा होगा—

राम—तुम्हारा क्या नाम है?

मोहन— मेरा नाम मोहन है। तुम्हारा क्या नाम है?

राम—मेरा नाम राम है। तुम कहाँ के रहने वाले हो?

मोहन— मैं हरियाणा का रहने वाला हूँ। और तुम कहाँ के रहने वाले हो?

राम— मैं उत्तर प्रदेश का हूँ।

तो नया रूप है—

राम—तुम्हारा नाम?

मोहन—मोहन, और तुम्हारा?

राम—राम। तुम कहाँ के हो?

मोहन—हरियाणा का। और तुम?

राम—उत्तर प्रदेश का।

कहना न होगा कि ऊपर के रूप में रेखांकित अंश रूप में छोड़ गए हैं। ऊपर स्वरूप के प्रसंग में लोप के अन्य उदाहरण भी इसी प्रकार के हैं।

अर्थ—परिवर्तन

भाषा परिवर्तन की प्रवृत्तियाँ

भाषा—परिवर्तन की प्रवृत्तियाँ यों तो प्रत्येक भाषा में अलग—अलग होती हैं। उदाहरण के लिए मध्यकाल में फारसी से काफी शब्द हिन्दी में आये तथा आधुनिक काल में अंग्रेजी से भी आये और इन सबका परिणाम यह हुआ कि हिन्दी के स्वनियों में छः की वृद्धि हो गयी : क, ख, ग, ज, फ, ऑ। किन्तु इस प्रकार शब्द भारत की अन्य भाषाओं में भी आये हैं यद्यपि किसी

में यह छः नये स्वनिम नहीं बढ़े हैं। यों प्रत्येक भाषा के इस तरह के परिवर्तन की विशिष्ट प्रवृत्तियों के बावजूद कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ भी होती हैं, जिन्हें भाषा-परिवर्तन की सामान्य प्रवृत्तियाँ कहा जा सकता है। यहाँ उनमें कुछ प्रमुख को लिया जा रहा है।

स्रलीकरण— प्रायः भाषा परिवर्तन के प्रवाह में पड़कर कई दृष्टियों से सरल होती जाती है। उदाहरण के लिए उच्चारण की दृष्टि से 'चन्द्र' का चान्द्र, कम्पन का काँपना, दुग्ध का दूध, क्नो का नो, प्साइकालजी का साइकालजी इसी कहानी को दुहरा रहे हैं। इन सभी में परिवर्तन के कारण संयुक्त व्यंजन के स्थान पर मूल व्यंजन शेष रह गये हैं जिनसे उच्चारण में आसानी हो गई। ऐसे ही कभी-कभी विपर्यय से भी उच्चारण सरल हो जाता है। चिन्ह का चिह्न, ब्राह्मण का ब्राम्हण। बड़े शब्द का छोटा रह जाना या बड़े वाक्य की तुलना में छोटे के प्रयोग में भी सरलता की ही प्रवृत्ति दीखती है।

वियोगात्मकता— संयोगात्मक भाषाएँ धीरे-धीरे परिवर्तन के कारण वियोगात्मक होती जाती हैं। उदाहरण के लिए संस्कृत 'रामस्य' के स्थान पर हिन्दी 'राम का', 'पर्वते' के स्थान पर 'पर्वत पर', या 'रामः गच्छति' के स्थान पर 'राम जाता है' के प्रयोग में यही प्रवृत्ति दीखती है।

पुरानी अनेक भाषाओं जैसे संस्कृत, ग्रीक, लैटिन में द्विवचन भी थे, किन्तु उनके स्थान पर उन्हीं से विकसित हिन्दी आदि आधुनिक भाषाओं में द्विवचन के संयोगात्मक रूप अब नहीं रहे तथा उनके स्थान पर वियोगात्मक रूपों का प्रयोग होता है। उदाहरण के लिए संस्कृत 'बालकौ' के स्थान पर हिन्दी में 'दो बालक' या 'घोटकौ' के स्थान पर 'दो घोड़े'। इस तरह वियोगात्मकता भी उल्लेख्य प्रवृत्ति है।

पृथकीकरण— परिवर्तन से भाषा के पृथक्-पृथक् रूप विकसित होते जाते हैं। उदाहरण के लिए परिवर्तन से ही संस्कृत से धीरे-धीरे पाँच छः प्राकृतें विकसित हुईं तथा उनसे फिर धीरे-धीरे सात आठ आधुनिक आर्य भाषाएँ— हिन्दी, पंजाबी, सिंधी, गुजराती, मराठी, उड़िया, बंगला, असमी। इस तरह किसी भी भाषा में परिवर्तन होते-होते उसकी कई बोलियाँ विकसित हो जाती हैं तथा फिर धीरे-धीरे बोलियाँ अलग-अलग भाषाएँ बन जाती हैं। इस रूप में विश्व में भाषाओं के परिवार वस्तुतः परिवर्तन के ही परिणाम हैं। आज मूलतः लगभग तेरह-चौदह

मूल भाषाओं से विश्व में कुल लगभग तीन हजार भाषाएँ भाषा परिवर्तन के कारण ही विकसित हुई हैं।

विशदीकरण— प्रायः शब्द-समूह के क्षेत्र में परिवर्तन से एक तरफ तो पुराने शब्द लुप्त होते हैं, दूसरी ओर नये शब्द आते हैं। इनमें लुप्त होने वाले शब्द तो थोड़े होते हैं तथा आने वाले शब्द ज्यादा। हिन्दी का शब्द भंडार 1930-40 के आस-पास साठ-सत्तर हजार था। अब यदि सभी विषयों को मिलाकर देखें तो हिन्दी दो लाख से ऊपर शब्दों का प्रयोग कर रही है। इस तरह भाषा के शब्द-भंडार में विशदता आती जाती है। वस्तुतः चूँकि प्रायः सभी भाषा-भाषियों की आभिव्यक्तिक आवश्यकताएँ धीरे-धीरे बढ़ती हैं अतः उनके अनुरूप भाषा में नये शब्दों के आगमन तथा नई-नई प्रयुक्तियों के विकास से विशदता आती जाती है।

ध्वनियंत्रों (वाद्ययन्त्र) का परिचय

ध्वनि (स्वन) के अध्ययन के सम्बद्ध शास्त्र या विज्ञान के लिए अंग्रेजी में आज प्रमुखतः फ़ोनेटिक्स और फ़ोर्नॉलॉजी ये दो शब्द चल रहे हैं। स्पष्ट ही दोनों का सम्बन्ध ग्रीक शब्द 'फोन' से है, जिसका अर्थ 'ध्वनि' है। 'टिक्स' और 'लॉजी' प्रयोगतः 'विज्ञान' के समानार्थी है। इस प्रकार दोनों ही एक प्रकार से ध्वनि के विज्ञान हैं, किन्तु प्रयोग की दृष्टि से इनमें थोड़ा अन्तर है। 'फ़ोनेटिक्स' में हम सामान्य रूप से ध्वनि की परिभाषा, भाषा-ध्वनि, ध्वनियों के उत्पन्न करने के अंग, ध्वनियों का वर्गीकरण और उनका स्वरूप, उनकी लहरों का किसी के मुँह से चलकर किसी के कान तक जाना तथा सुना जाना एवं उनमें विकार आदि बातों पर विचार करते हैं। साथ ही भाषा-विशेष की ध्वनियाँ, उनका उच्चारण तथा वर्गीकरण आदि भी इसी के अन्तर्गत आता है। 'फ़ोर्नॉलॉजी' में भाषा-विशेष की ध्वनियों की व्यवस्था, इतिहास तथा परिवर्तन आदि का अध्ययन किया जाता है। यों ध्वनि के अध्ययन के ये दो प्रमुख विभाग तो हैं, किन्तु इनके लिए क्रमशः 'फ़ोर्नॉलॉजी' इन दो पारिभाषिक नामों का जो प्रयोग किया गया है, वह सार्वभौम नहीं है। कुछ विद्वानों ने तो उन्हें इस रूप में माना है, किन्तु अन्यो का प्रयोग इससे भिन्न भी है। कुछ लोग दोनों अर्थों में 'फ़ोनेटिक्स' का ही प्रयोग करते हैं तो कुछ लोग ध्वनि-अध्ययन के वर्णनात्मक रूप को एककालिक 'फ़ोनेटिक्स' कहते हैं और ऐतिहासिक रूप को 'हिस्टॉरिकल फ़ोनेटिक्स' या कुछ अन्य लोग 'फ़ोर्नॉलॉजी' के अन्तर्गत ही सभी को स्थान देते हैं। कुछ लोग 'फ़ोनेटिक्स' और 'फ़ोर्नॉलॉजी' को पर्याप्त के रूप में

भी प्रयोग करते रहे हैं, यद्यपि अब ऐसा प्रायः नहीं हो रहा है। आजकल प्रायः 'फ़ोनेटिक्स' का प्रयोग ध्वनि के भाषा-निरपेक्ष अध्ययन के लिए किया जाता है जिसमें सामान्य रूप से ध्वनियों का उच्चारण, वर्गीकरण आदि आते हैं, तो फ़ोनॉलॉजी का प्रयोग भाषा-विशेष की ध्वनियों की व्यवस्था के लिए।

संस्कृत में ध्वनिविज्ञान का पुराना नाम 'शिक्षाशास्त्र' था। हिन्दी में इस प्रसंग में 'फ़ोनेटिक्स' के लिए मुख्यतः ध्वनिविज्ञान, ध्वनिशास्त्र अथवा स्वनविज्ञान आदि तथा 'फ़ोनॉलॉजी' के लिए ध्वनि-प्रक्रिया, स्वन-प्रक्रिया या स्वनिमविज्ञान आदि नाम प्रयुक्त हो रहे हैं। करूपता की दृष्टि से फ़ोनेटिक्स के लिए ध्वनिविज्ञान या स्वनविज्ञान और फ़ोनॉलॉजी के लिए ध्वनिप्रक्रिया, स्वनप्रक्रिया या स्वनिमविज्ञान का प्रयोग किया जा सकता है।

ध्वनि-अध्ययन के आधार

इसके तीन आधार हैं— उच्चारण, प्रसरण या संवहन तथा श्रवण। इसी आधार पर ध्वनिविज्ञान की मुख्यतः तीन शाखाएँ मानी जाती हैं—

1. **औच्चारणिक ध्वनिविज्ञान**— जिसमें उच्चारण और उससे संबद्ध बातों का अध्ययन होता है।
2. **सांवाहिक या प्रासरणिक ध्वनिविज्ञान**— जिसमें उच्चारण के फलस्वरूप बनने वाली ध्वनि-लहरों का अध्ययन होता है। इस अध्ययन में प्रायः काइमोग्राफ़, स्पेक्टोग्राफ़, ऑसिलोग्राफ़ आदि यंत्रों से सहायता ली जाती है।
3. **श्रावणिक ध्वनिविज्ञान**— इसमें ध्वनियों के सुने जाने का अध्ययन होता है।

स्पष्ट ही पहली शाखा का सम्बन्ध बोलने वाले से, तीसरी का सुनने वाले से, और दूसरी का ध्वनियों की वाहिनी तरंगों, उनके स्वरूप तथा गति आदि से, अर्थात् दोनों शाखाओं के बीच की स्थिति से है।

औच्चारणिक ध्वनिविज्ञान—

ध्वनियों के उच्चारण वाग्यंत्र से होता है जिसे उच्चारण अवयव भी करते हैं—

1. उपालिजिह्व
2. भोजन-नलिका
3. स्वर-यंत्र

4. स्वरयंत्र—मुख
5. स्वर—तंत्री
6. स्वरयंत्र—मुख आवरण
7. नसिका—विवर
8. मुख—विवर
9. अलिजिह्व
10. कंठ
11. कोमल तालु
12. मूर्द्धा
13. कठोर तालु
14. वर्त्स
15. दाँत
16. ओष्ठ
17. जिह्वामध्य
18. जिह्वानोक
19. जिह्वाग
20. जिह्वा
21. जिह्वापश्च
22. जिह्वामूल

चल अवयव—इन अवयवों को ऊपर उठाकर या नीचे ले जाकर ध्वनियों का उच्चारण करते हैं। इन्हीं को करण भी कहते हैं। नीचे का ओष्ठ, जीभ और उसके विभिन्न भाग तथा स्वरतंत्रियाँ इस वर्ग में आती हैं। नीचे के ओष्ठ तथा जीभ मुँह में नीचे के भाग हैं, अतः उनके आधार पर कभी-कभी केवल निचली स्वरतंत्री को ही करण कहते हैं, किन्तु वास्तविकता यह है कि दोनों ही स्वतंत्रियाँ चल होने के कारण करण का कार्य करती हैं, साथ ही ये उच्चारण-स्थान भी हैं।

अचल अवयव— ऊपर के दाँत, ऊपर का ओष्ठ, तालु के विभिन्न भाग इसके अन्तर्गत आते हैं। ये चल नहीं हैं। इनसे स्थान का बोध होता है। अलिजिह्व या कौवे की स्थिति कुछ अजीब है। यों तो यह चल अवयव है, किन्तु मुँह में ऊपर है और ऊपर के अवयव अचल है। अतः स्थान—संकेतक है, इसीलिए इसे भी प्रायः उन्हीं की श्रेणी में रखा जाता है।

श्वास—नलिका, भोजन—नलिका और अभिकाकल— हम प्रतिक्षण नाक के रास्ते से हवा अपने फेफड़े में पहुँचाते रहते हैं। जैसा कि ऊपर के चित्र में दिखलाया गया है। साँस श्वास—नलिका में होती हुई फेफड़े में पहुँचती है और उन्हें स्वच्छ कर वह फिर उसी पथ से बाहर निकल जाती है। श्वास—नलिका के पीछे भोजन—नलिका है जो नीचे आमाशय तक जाती है। इन दोनों नलिकाओं के बीच में दोनों पृथक् करने के लिए एक दीवाल है। भोजन—नलिका के विवर के साथ श्वास—नलिका की ओर झुकी हुई एक छोटी—सी जीभ है जिसे अभिकाकल या स्वर—यंत्रमुख—आवरण कहते हैं। भोजन या पानी जब मुँह के रास्ते भोजन—नलिका के मुख के पास आता है तो यह अभिकाकल नीचे की ओर झुककर श्वास—नलिका को बन्द कर देता है और भोजन या पानी आगे सरक कर भोजन—नलिका में चला जाता है। यदि श्वास—नलिका बन्द न हो तो जैसा कि चित्र से स्पष्ट है, भोजन और पानी इसी नलिका में चले जायें और मनुष्य की तुरन्त ही मृत्यु हो जाये। खाते समय कभी—कभी असावधानी के कारण जब अन्न के एक—आधे टुकड़े श्वास—नलिका में चले जाते हैं तो बुरी दशा हो जाती है और फेफड़े की हवा शीघ्र ही अपनी पूरी शक्ति लगाकर उसे लौटा देती है। पानी पीते समय भी यदि पानी सरक जाता है तो इसी प्रकार की सुरसुरी आ जाती है। हमारे यहाँ खाते समय बात करना संभवतः इसीलिए वर्जित है, क्योंकि बात करते समय श्वास—नलिका को खुला रखना ही पड़ता है।

भोजन या पानी का स्वाभाविक मार्ग मुँह से होते भोजन—नलिका में है। इसी प्रकार श्वास या वायु का स्वाभाविक पथ नासिका—विवर से होते हुए श्वास—नलिका में है। सभी जानवर इस स्वाभाविक पथ का ही अनुसरण करते हैं, पर मनुष्य मस्तिष्कप्रधान होने के कारण स्वाभाविकता या प्रकृति के विरुद्ध जाता है। यहाँ भी उसने कुछ विशिष्ट अवसरों के लिए भोजन—पानी और श्वास के स्वाभाविक मार्ग का परित्याग कर दिया है। साधू लोग ठोस भोजन तो नहीं, पर दूध और पानी आदि द्रव पदार्थ कभी—कभी नाम से पीते देखे जाते हैं, दूसरी ओर

बोलते समय सभी लोग श्वास-नलिका के साथ-साथ मुँह को भी वायु के आने-जाने का मार्ग बना देते हैं जो कि नितान्त अस्वाभाविक है। पशु बोलते भी हैं तो वायु का अधिक भाग उनकी नाम से ही निकलता है। यही कारण है कि उनकी ध्वनि सर्वदा अनुनासिक होती है। हम लोगों की भाषा में भी कभी-कभी कुछ शब्दों में अकारण अनुनासिकता आ जाती है, जो शायद इसी बात को प्रदर्शित करता है कि नाक से बोलना ही हमारे लिए भी अधिक प्रकृत या स्वाभाविक है।

स्वर-यंत्र, स्वर-यंत्रमुख और स्व-तंत्री-श्वास-नलिका के ऊपरी भाग में अभिकाकल से कुछ नीचे ध्वनि उत्पन्न करने वाला प्रधान अवयव होता है जिसे ध्वनि-यंत्र या स्वरयंत्र कहते हैं। बाहर गले में जो उभरी घाँटी दिखाई पड़ती है, वह यही है। यहाँ श्वास-नलिका कुछ मोटी होती है। स्वर-यंत्र झिल्ली के बने दो लचीले परदे या कपाट होते हैं जिन्हें स्वर-तंत्री या स्वर-रज्जु कहते हैं। वस्तुतः इनका यह नाम उचित नहीं है। ये ओष्ठ-जैसे होते हैं। अतः इन्हें 'स्वर-ओष्ठ' कहना अधिक सही है। इन परदों, स्वर-तंत्रियों या स्वर-ओष्ठों के बीच के खुले भाग को स्वर-यंत्रमुख या काकल कहते हैं। साँस लेते समय या बोलते समय हवा इसी मुख से होकर बाहर-भीतर जाती है। इन स्वर-तंत्रियों का मूल या प्राकृतक काम है— बोज़ उठाते समय या इसी प्रकार के अन्य कामों के समय हवा को रोककर हमारी शक्ति और हिम्मत को अपेक्षाकृत बढा देना। किन्तु अब बोलने में—जो निश्चय ही कृत्रिम या बाद में विकसित है— हम इन स्वर-तंत्रियों के सहारे कई प्रकार की ध्वनियाँ उत्पन्न करते हैं। ऐसा करने के लिए स्वर-तंत्रियों का कभी तो एक-दूसरे के समीप लाना पड़ता है और कभी दूर रखना पड़ता है। जो लोग रुक-रुककर बोलते या हकलाते हैं, वे किसी शारीरिक या मानसिक कमी के कारण इन स्वर-तंत्रियों को आवश्यकतानुसार उचित मात्रा में खोल या बन्द करने में असमर्थ होते हैं।

स्वर-तंत्रियों के इस प्रकार समीप आने या दूर हटने से कई प्रकार की स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। बहुत सूक्ष्मता से देखा जाय तो इन स्थितियों की संख्या लगभग एक दर्जन हैं जिनमें अधिक महत्वपूर्ण निम्नांकित 6-7 हैं—

1. स्वर-तन्त्रियाँ एक-दूसरी से सबसे अधिक दूर श्वास लेने की स्थिति में होती हैं। इस स्थिति में काकल या स्वर-यंत्रमुख की स्थिति में और बहुत अधिक चौड़ा होता है।
2. दूसरी स्थिति है प्रश्वास की। साँस निकालते समय स्वर-तंत्रिका श्वास लेते समय की तुलना में एक-दूसरे के निकट होती हैं और इस प्रकार स्वर-यंत्रमुख कुछ कम चौड़ा हो जाता है। इस स्थिति में स्वर-यंत्रमुख लगभग त्रिभुजाकार होता है। ऐसी स्थिति में जो प्रश्वास निकलता है, स्वर-तंत्रियों से घर्षण नहीं करता। अघोष ध्वनियों का उच्चारण इसी स्थिति में होता है।
3. तीसरी स्थिति में स्वर-तंत्रियाँ एक-दूसरी के और भी निकट जा जाती हैं। अब ये इतनी निकट होती हैं कि उनके बीच से जाने वाली हवा को रगड़कर खाकर निकलना पड़ता है। रगड़ के कारण ही स्वर-तन्त्रियों में कम्पन होता है। घोष ध्वनियों का उच्चारण इसी स्थिति में होता है। इस स्थिति में स्वरयंत्रमुख बहुत संकीर्ण हो जाता है और नीचे-ऊपर के किनारों के बन्द होने के कारण लम्बाई में भी वह वह छोटा हो जाता है। इस स्थिति में भी कभी तो स्वर-तंत्रियाँ कम कड़ी रखी जाती हैं और कभी अधिक। इस प्रकार कभी उनके बीच से हवा कम तेज निकलती है और कभी अधिक। इन बातों पर तन्त्रियों का कम्पन्न निर्भर करता है और इस कम्पन्न के स्वरूप और तेजी पर ध्वनि का आयतन, उनकी तीव्रता तथा सुर आदि निर्भर करते हैं। सामान्य बोलचाल में पुरुषों में स्वर-तंत्रियों के कम्पन की गति 109 से 163 चक्र प्रति सेकेंड तथा स्त्रियों में 218 से 326 चक्र प्रति सेकेंड होती है। यों यह कम से कम 42 चक्र प्रति सेकेंड तथा अधिक से अधिक 2048 चक्र प्रति सेकेंड हो सकती है। संगीतज्ञ, अभिनेता और अच्छे वक्ता में भावावेश आदि के अनुसार यह कम्पन सामान्य से बहुत अधिक देखा जाता है। 19 मई, 1943 ई0 को चर्चिल का वाशिंगटन में भाषण हुआ था। उनके रेकर्ड का विश्लेषण करने पर पता चला कि भाषण से अधिकांश अंशों में उनकी तन्त्रियों की गति 115 से 230 के बीच में थी।
4. चौथी स्थिति में स्वर-तन्त्रियाँ अपने लगभग तीन-चौथाई भाग में तो एक-दूसरी से मिलकर हवा का मार्ग पूर्णतः बन्द कर देती हैं। कोने का केवल एक-चौथाई भाग ही

स्वर-यंत्रमुख के रूप में खुला रहता है। इसी स्थिति में फुसफुसाहट वाली ध्वनियों का उच्चारण होता है। इस ध्वनि को 'जपित', 'जाप', 'फुसफुस' या 'उपांशु' भी कहते हैं। जब दो मित्र आपस में धीरे-धीरे बात करते हैं, तो इसी प्रकार की ध्वनियों का प्रयोग करते हैं। स्वर-यंत्रमुख के बहुत छोटा हो जाने के कारण ध्वनि धीमी हो जाती है। फुसफुसाहट की सभी ध्वनियाँ अघोष होती हैं। इनके उच्चारण में स्वर-तन्त्रियों में कम्पन नहीं होता। वस्तुतः जपित ध्वनि के उत्पन्न होने की यह एक स्थिति है। इसके अतिरिक्त निम्नांकित अन्य स्थितियाँ भी होती हैं—

क. कभी-कभी इनके उच्चारण में स्वर-तन्त्रियाँ ठीक उसी स्थिति में होती हैं जिस स्थिति में वे घोष ध्वनियों को उत्पन्न करती हैं। पर साथ ही गले की माँसपेशियों को बहुत कड़ा रखकर स्वर-तन्त्रियों में इतना तनाव ला दिया जाता है कि हवा के घर्षण से वे कम्पित नहीं होती और इस प्रकार उनसे जो ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं, जपित होती हैं।

ख. स्वर-तन्त्रियों के ऊपर उन्हीं दूसरी स्वर-तन्त्रियाँ भी होती हैं जिन्हें मिथ्या या कृत्रिम स्वर-तन्त्रियाँ कहते हैं। वे असली स्वर-तन्त्रियों से कुछ छोटी होती हैं। कभी-कभी ऐसा होता है कि असली स्वर-तन्त्रियाँ तो दूर-दूर रहती हैं, किन्तु ऊपर की तन्त्रियाँ निकट आकर हवा के रास्ते को बहुत छोटा कर देती हैं और इस स्थिति में भी 'जपित' ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं।

ग. कभी-कभी स्वर-तन्त्रियाँ सामान्य स्थिति में हों, लेकिन उनके बीच से आने वाली हवा बहुत थोड़ी और बहुत धीमी हो, तब भी फुसफुसाहट की ध्वनियाँ उत्पन्न हो सकती हैं।

घ. एक चौथी स्थिति यह भी मानी जाती है जब स्वर-तन्त्रियाँ न तो अघोष की स्थिति में बहुत खुली होती हैं और न घोष की स्थिति में काकल को इतना सँकरा बना देती हैं कि हवा रगड़ से निकले। यह स्थिति घोष-अघोष के बीच की है तथा असामान्य है।

ड. बिथेल आदि कुछ ध्वनिशास्त्रियों ने एक ऐसी स्थिति भी मानी है जब दोनों ही स्वर-तन्त्रियाँ अधिकांशतः बन्द होकर हवा को रोकती हैं और केवल दोनों का एक-एक अंश ही खुला रहता है। जब बहुत फटी-फटी आवाज सुनाई पड़ती है, तब भी यही स्थिति रहती है। ध्वनिविदों के अनुसार यह स्थिति देर तक नहीं रखी जा सकती।

5. एक अन्य स्थिति में स्वर-तंत्रियाँ एक कोने से दूसरे कोने तक पूर्णतः सटी रहती हैं और हवा का रास्ता पूर्णतः बन्द हो जाता है। इसी स्थिति में रहकर झटके के साथ स्वर-तंत्रियाँ अलग हो जाती हैं तो काकल्य स्पर्श, अलिफ़, नाम की ध्वनि उच्चरित होती है जिसके लिए पी चिह्न का प्रयोग किया जाता है। भारतीय भाषाओं में यह मुंडारी में मिलती है। कुछ अफ्रीकी, हिब्रू, डच, जर्मन में यह ध्वनि सामान्य है। यह हल्की ख़ाँसी में मिलती-जुलती ध्वनि है। अंग्रेजी में कभी-कभी जोर देकर बोलने में इज के उच्चारण में इ के पहले यह ध्वनि सुनाई पड़ती है।
6. छटे प्रकार की स्थिति में स्वर-तंत्रियों को लगभग तीन-चौथाई भाग तो लगभग घोष की स्थिति में होता है और शेष एक-चौथाई काफी खुला घोष ध्वनि इस स्थिति में उच्चरित होती है।
7. सातवें प्रकार की स्थिति घोष वाली स्थिति ही है किन्तु यह अलग इसलिए है कि स्वर-तंत्रियाँ घोष की तुलना में इसमें इतनी होती हैं जिसके कारण कम्पन्न अधिक नहीं होता, किन्तु ये जपित-जैसी स्थिति में अर्थात् पूर्णतः तनी नहीं होती। इस रूप में इसे घोष और जपित के बीच की स्थिति मान सकते हैं। मर्मर ध्वनियों का उच्चारण इसी स्थिति में होता है। इसमें कम्पन बहुत थोड़ा होता है, साथ ही रगड़ जैसी एक आवाज भी होती है।

इस प्रकार स्वर-यंत्र स्वर-तंत्रियों और मिथ्या स्वर-तंत्रियों के सहारे ध्वनियों के उच्चारण में पर्याप्त काम करता है। वस्तुतः यही वह पहला ध्वनि-अवयव है जहाँ प्रश्वास के सहारे ध्वनि उत्पन्न करना आरम्भ होता है। साथ ही किसी भाषा की कोई भी ध्वनि ऐसी नहीं है जिसके निर्माण में इस अंग का हाथ न हो।

स्वर-यंत्र, स्वर-तंत्रियों के सहारे ही नहीं, अपितु अपने पूरे शरीर के साथ, अर्थात् पूरा स्वर-यंत्र भी ध्वनियों के निर्माण में सहायता देता है। अफ्रीका की कई-भाषाओं में पायी जाने वाली अंतर्मुखी या अंतःस्फोट ध्वनियाँ इसी प्रकार की हैं। उच्चारण में पूरा ध्वनियंत्र कुछ नीचे कर लिया जाता है।

मुख-विवर, नासिका-विवर और कौवा- स्वर-यंत्र के ऊपर उसका ढक्कन होता है जिसके सम्बन्ध में हम ऊपर विचार कर चुके हैं। उसके ऊपर वह स्थान आता है जिसे हम

चौराहा कह सकते हैं। यह एक खाली स्थान है, जहाँ से चार मार्ग 1. श्वास-नलिका, 2. भोजन-नलिका, 3. मुख-विवर और 4. नासिका-विवर। जिस प्रकार इस चौराहे के बीच अभिकाकल है, उसी प्रकार ऊपर जीभ के स्वरूप का माँस का छोटा-सा भाग उस स्थान पर होता है, जहाँ से नासिका-विवर और मुख-विवर के रास्ते फूटते हैं। इस छोटी जीभ को 'कौवा' या अलिजिह्व कहते हैं। इसका भी कार्य कोमल वस्तु के साथ अभिकाकल की भाँति कभी-कभी मार्ग अवरुद्ध करना है।

कौवा का कोमल तालु के साथ हम तीन अवस्थाओं में पाते हैं। पहली तो इसकी स्वाभाविक और साधारण अवस्था है जिसमें यह ढीला होकर नीचे की ओर लटका रहता है, मुँह बन्द रहता है और श्वास अबाध गति से नासिका-विवर से होकर आता-जाता है। स्वाभाविक रूप से श्वास लेने की अवस्था यही होती है। किसी की बात सुनकर जब हम मुँह को बिना खोले हुए कहते हैं, तो वह इसी दशा में उच्चरित होती है।

दूसरी अवस्था में कौवा तनकर नाक के रास्ते को बन्द कर देता है और श्वास-नलिका से आयी हवा को नासिका-विवर में तनिक भी नहीं जाने देता, अतः वायु मुख-विवर से आती-जाती है। मौखिक स्वरों और व्यंजनों का उच्चारण इसी दशा में होता है।

तीसरी और अन्तिम अवस्था उस समय की है जब कौवा न तो ऊपर तनकर नासिका-विवर को रोकता है और न नीचे गिर कर मुख-विवर को। वह मध्य में रहता है, अतः श्वास नासिका और मुख दोनों से होकर निकलता है। अनुनासिक स्वरों का उच्चारण इसी अवस्था में होता है।

उपर्युक्त तीन स्थितियों में दूसरी और तीसरी में कौवा भाषा-ध्वनियों के उच्चारण में बहुत सहायक होता है, क्योंकि अधिकांश ध्वनियाँ इन्हीं दो प्रकारों की होती हैं। किन्तु यह तो कौवे का सामान्य कार्य है जिसकी आवश्यकता अधिकांश भाषाओं में होती है। कुछ भाषाओं में यह विशेष प्रकार की ध्वनियों के उच्चारण में प्रत्यक्षतः भी सहायक होता है। इस प्रकार की ध्वनियाँ अलिजिह्वीय कहलाती हैं। इनके उच्चारण में कौवा या तो जिह्वापश्च से स्पर्श करके स्पर्श-ध्वनि उत्पन्न करता है, या एस्किमो भाषा का अनुनासिक स्पर्श उत्पन्न करता है, या उसके समीप होकर संघर्षी ध्वनि उत्पन्न करता है, या फिर उत्क्षेप या कुंठन करके फ्रांसीसी 'र' ध्वनि उत्पन्न करता है।

तालु, जिह्वा, दन्त और ओष्ठ-कौवे के एक ओर नासिका-विवर है और दूसरी ओर मुख-विवर। नासिका-विवर में और कोई भी ऐसा अंग नहीं है जिससे ध्वनि उत्पन्न करने में कुछ सहायता मिले, अतः उसे छोड़कर मुख-विवर पर विचार किया जा सकता है।

मुख-विवर में ऊपर की ओर तालु है जिसके कंठ-स्थान और दाँतों के बीच में क्रम से 4 भाग हो सकते हैं— 1. कोमल तालु, 2. मूर्द्धा, 3. कठोर तालु तथा वत्सर्स। जिह्वा के विभिन्न भागों को इनसे स्पर्श कराकर विभिन्न ध्वनियाँ उच्चरित की जाती हैं।

मुख-विवर के निचले भाग में जिह्वा है। जिह्वा उच्चारण-अवयवों में सबसे प्रमुख है, इसी कारण इसके पर्याय 'वाणी', 'जबान' आदि भाषा के पर्याय बन गये हैं। प्रायः सभी भाषाओं की अधिकांश ध्वनियाँ जीभ की सहायता से ही बोली जाती हैं। साधारण अवस्था में जीभ नीचे ढीली पड़ी होती है। बोलने में वायु-अवरोध या विशेष आकृति का गूँज-विवर बनाने के लिए हम इसका प्रयोग करते हैं। जिह्वा को पाँच भागों में बाँटा जा सकता है।

कभी-कभी इनके 'जिह्वोपाग्र' आदि अन्य अवांतर भेद भी किये जाते हैं। ध्वनि-उच्चारण में इन सभी भागों का अलग-अलग महत्व साथ ही अभिकाकल कौवे की भाँति जिह्वा की विभिन्न अवस्थाएँ भी होती हैं। इन सब का सविस्तार वर्णन ध्वनियों के वर्गीकरण के प्रसंग में मिलेगा। जीभ, दाँत तथा तालु के विभिन्न भागों को छूकर या उनके समीप आकर या उत्क्षेप-लोड़न आदि करके ध्वनियों का निर्माण करती है।

मुख-विवर में तालु तथा जिह्वा के बाद तीसरे प्रधान अंग दाँत हैं जो भोजन करने के अतिरिक्त बोलने में भी हमारी सहायता करते हैं। इनके भी 1. मूल और 2. अग्र ये दो भाग किये जा सकते हैं।

कभी-कभी दोनों के बीच में एक मध्य भाग भी मानने की आवश्यकता पड़ती है। ध्वनि-निर्माण में ऊपर के दाँतों का ही अधिक महत्व है। ये नीचे के ओष्ठ या जीभ से मिलकर या उनके समीप होकर ध्वनि-निर्माण करते हैं।

ध्वनि से सम्बन्ध रखने वाले अंतिम ओष्ठ हैं। ये आपस में मिल या पास आकर या दाँत की सहायता से ध्वनियाँ उत्पन्न करते हैं।

हम ध्वनि कैसे उत्पन्न करते हैं?— हारमोनियम या बिगुल आदि वाद्ययंत्रों की भाँति हम लोग भी वायु की सहायता से बोलते हैं। यह वायु दो प्रकार की है। एक तो वह है जो नाक या मुँह

के मार्ग से भीतर खींचते हैं। यह बाहर की साफ हवा होती है। इस शुद्ध हवा से, दुःख है कि, हम लोग अधिक ध्वनियाँ उच्चरित नहीं कर पाते हैं। कुछ भाषाओं की आश्चर्य आदि की ध्वनियाँ तथा अफ्रीका, अमरीका आदि की कुछ क्लिक आदि ध्वनियों के उच्चारण में ही यह हवा हमारा काम दे पाती है। दूसरे प्रकार की हवा वह है जो फेफड़े की गन्दगी साफ करके बाहर निकलती है। सच पूछा जाय तो यह दूसरी हवा ही संसार की प्रायः सभी भाषाओं के बोलने में हमारी सहायता करती है। पहली हवा 'श्वास' है दूसरी 'प्रश्वास'।

फेफड़े की सफाई करने के पश्चात् वायु श्वास-नलिका के पथ से बाहर चलती है। स्वर-यंत्र के पूर्व इसमें किसी भी प्रकार का विकार नहीं होता। सर्वप्रथम हम स्वर-तंत्रियों की सहायता से इसे मनमाना रूप देते हैं। उससे आगे चलकर आवश्यकतानुसार नासिका-विवर, मुख-विवर या दोनों से थोड़ा-थोड़ा निकालते हैं। ऐसा करने में कौवा भी हमारी सहायता करता है। वहाँ से मुख-विवर में जाने वाली हवा का हम आवश्यकतानुसार जिह्वा, कंठ, तालु, दाँत, और ओष्ठ के सहारे इच्छित रूप देकर बाहर निकालते हैं जो बाहर आकर ध्वनि की संवा पाती है। साथ ही आवश्यक होने पर इस के एक अंश को नासिका-विवर से निकालते हैं।

संवहनिक अथवा प्रासरणिक ध्वनिविज्ञान

भौतिकी में इसे केवल ध्वनिविज्ञान कहते हैं। मैंने इसे इस आधार पर यह नाम दिया है कि भाषा विज्ञान में इसके अन्तर्गत इस बात का अध्ययन किया जाता है कि कैसे ध्वनि लहरों द्वारा वक्ता के मुँह से श्रोता के कान तक ले जायी जाती है। ऐसा होता है कि फेफड़े से चली हवा ध्वनि-यंत्रों की सक्रियता के कारण आन्दोलित होकर निकलती है और बाहर की वायु में अपने आन्दोलन के अनुसार एक विशिष्ट प्रकार के कम्पन्न से लहरें पैदा कर देती हैं। ये लहरें ही सुनने वाले के कान तक पहुँचती हैं और वहाँ श्रवणेन्द्रिय में कम्पन पैदा करती हैं। सामान्यतः इन ध्वनि-लहरों की चाल 1100-1200 फीट प्रति सेकेंड होती है। ज्यों-ज्यों ये लहरें आगे बढ़ती जाती हैं, इनकी तीव्रता घटती जाती है। इसी कारण दूर के व्यक्ति को ध्वनि धीमी सुनाई पड़ती है। अनेक यंत्रों के सहारे भौतिकशास्त्र में इन लहरों का बहुत गम्भीर अध्ययन किया गया है, किन्तु भाषाविज्ञान में उसकी बहुत अधिक उपयोगिता नहीं है।

श्रावणिक ध्वनिविज्ञान-

इसमें इस बात का अध्ययन होता है कि हम कैसे सुनते हैं। इस बात को स्पष्ट करने के लिए संक्षेप में कान की बनावट को देख लेना होगा। हमारा कान तीन भागों में बँटा है जिसको क्रम से बाह्य कर्ण, मध्यवर्ती कर्ण और अभ्यन्तर कर्ण कह सकते हैं। बाह्य कर्ण के भी दो भाग किये जा सकते हैं। एक तो वह भाग है जो ऊपर टेढ़ा-मेढ़ा दिखाई देता है। यह भाग सुनने की क्रिया में अपना कोई विशेष महत्व नहीं रखता। दूसरा भाग छिद्र या कर्ण-नलिका के बाहरी भाग से आरम्भ होकर भीतर तक जाता है। इस भाग की या कर्ण-नलिका की लम्बाई लगभग एक इंच होती है। नलिका के भीतरी छिद्र पर एक झिल्ली होती है जो बाह्य कर्ण को मध्यवर्ती कर्ण से संबद्ध करती है।

मध्यवर्ती कर्ण एक छोटी-सी कोठरी है जिसमें तीन छोटी-छोटी अस्थियाँ होती हैं। इन अस्थियों का एक सिरा बाह्य कर्ण की झिल्ली से जुड़ा रहता है और दूसरी ओर इसका सम्बन्ध अभ्यन्तर कर्ण के बाहरी छिद्र से होता है। इसके पीछे अभ्यन्तर कर्ण आरम्भ होता है। इस भाग में शंख के आकार का एक अस्थि-समूह होता है। इसके खोखले भाग में उसी आकार की झिल्लियाँ होती हैं। इन दोनों के बीच में एक प्रकार का द्रव पदार्थ भरा रहता है। इस भाग के भीतरी सिरे की झिल्ली से श्रावणी शिरा के तन्तु आरम्भ होते हैं जो मस्तिष्क से सम्बद्ध रहते हैं। ध्वनि की लहरें जब कान में पहुँचती हैं तो बाह्य कर्ण की भीतरी झिल्ली पर कम्पन्न उत्पन्न करती हैं। इस कम्पन्न का प्रभाव मध्यवर्ती कर्ण की अस्थियों द्वारा भीतरी कर्ण के द्रव पदार्थ पर पड़ता है और उसमें लहरें उठती हैं जिसकी सूचना श्रावणी शिरा के तन्तुओं द्वारा मस्तिष्क में जाती हैं और हम सुन लेते हैं।

ध्वनि, हवा तथा अन्य संबद्ध अणुओं में कम्पन्न-रूप में होती है। यह कम्पन्न प्रति सेकेण्ड 'फ्रीक्वेन्सी' या आवृत्ति कहलाता है। यह आवृत्ति कम या अधिक हो सकती है। सामान्यतः आदमी का कान कुछ से लेकर 20,000 आवृत्ति तक की ध्वनि सुन सकता है। किन्तु साफ और समझने लायक वह केवल 90 से 10,000 तक ही सुन सकता है। सुनने की दृष्टि से काफी साफ आवाज केवल 200 से 2000 के बीच में मानी गयी है और बहुत ही साफ 1000 से 2000 के बीच।

इकाई— 5

वाक्य रचना सिद्धान्त

वाक्य रचना सिद्धान्त या 'वाक्यविज्ञान' में वाक्य—गठन या 'पद' से वाक्य बनाने की प्रक्रिया का वर्णनात्मक, तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन होता है। वर्णनात्मक वाक्यविज्ञान में किसी भाषा में किसी एक काल में प्रचलित वाक्य—गठन का अध्ययन किया जाता है। तुलनात्मक तथा व्यतिरेकी में दो या अधिक भाषाओं का वाक्य—गठन की दृष्टि से किये गये अध्ययन की तुलना करके साम्य और वैषम्य देखा जाता है। ऐतिहासिक वाक्यविज्ञान में एक भाषा के विभिन्न कालों का अध्ययन कर वाक्य—गठन की दृष्टि से उसका इतिहास प्रस्तुत किया जाता है।

वाक्य को प्रायः लोक सार्थक शब्दों का समूह मानते हैं, जो भाव को व्यक्त करने की दृष्टि से अपने आप में पूर्ण हो। कोषों तथा व्याकरणों में भी वाक्य की इसी प्रकार की परिभाषा मिलती है। यूरोप में इस दृष्टि से प्रथम प्रयास थ्रैक्स (लगभग पहली सदी ई० पूर्व) का है। भारत में पतंजलि (150ई०पू० के लगभग) का नाम लिया जा सकता है। ये दोनों ही आचार्य

पूर्ण अर्थ की प्रतीति कराने वाले शब्द—समूह को वाक्य' मानते हैं। यों समझने—समझाने के लिए ये परिभाषाएँ ठीक हैं, किन्तु तत्त्वतः इन्हें ठीक नहीं कहा जा सकता। थोड़ा ध्यान दें तो यह स्पष्ट हुए बिना नहीं रहेगा कि भाषा में या बोलने में वाक्य ही प्रधान है। वाक्य भाषा की इकाई है। व्याकरणवेत्ताओं ने कृत्रिम रूप में वाक्य को तोड़कर शब्दों को अलग—अलग कर दिया है। हमारा सोचना, समझना, बोलना या किसी भाव को हृदयंगम करना सब कुछ

वाक्य' में ही होता है। ऐसी स्थिति में 'वाक्य' पदों या शब्दों का समूह है। कहने की अपेक्षा 'पद या शब्द वाक्यों के कृत्रिम खंड है' कहना अधिक समीचीन है।

'पद' और 'वाक्य' को लेकर हमारे यहाँ मीमांसकों में विवाद रहा। अन्विताभिधानवाद सिद्धान्त के अनुसार वाक्य की ही सार्थक सत्ता मूल है और, 'पद' उसके तोड़ गए अंश हैं, किन्तु अभिहितान्वयवाद के अनुसार 'पद' की ही सार्थक सत्ता है और वाक्य पदों का जोड़ा हुआ रूप है। भर्तृहरि ने भी अपने 'वाक्यपदीय' में वाक्य की सत्ता को ही वास्तविक कहा है।

स्पष्ट ही अन्विताभिधानवाद या भर्तृहरि का मत ही आज के भाषा-विज्ञान-जगत् को मान्य है, और वाक्य ही भाषा की न्यूनतम पूर्ण सार्थक सहज इकाई है।

ऊपर वाक्य की जो परिभाषाएँ दी गई हैं, उनमें मूलतः दो बातें हैं—

1. वाक्य शब्दों का समूह है।
2. वाक्य पूर्ण होता है।

वाक्य शब्दों का समूह है' पर एक दृष्टि से ऊपर विचार किया जा चुका है, और यह कहा जा चुका है कि वाक्य का शब्द-रूप में विभाजन स्वाभाविक नहीं है। आज भी संसार में ऐसी भाषायें हैं जिनमें वाक्य का शब्द-रूप में कृत्रिम विभाजन नहीं हुआ है। ऐसी भाषाओं में वाक्य हैं, शब्द नहीं।

वाक्य शब्दों का समूह है' पर एक और दृष्टि से भी विचार किया जा सकता है।

वाक्य शब्दों का समूह है' का अर्थ है कि वाक्य एक से अधिक शब्दों का होता है, पर यह बात भी पूर्णतः ठीक नहीं है। एक शब्द के भी वाक्य होते हैं। छोटा बच्चा प्रातः जब माँ से बिछकुट' (बिस्कुट) कहता है तो इस एक शब्द के वाक्य से ही वह अपना पूरा भाव व्यक्त कर लेता है। बातचीत में भी प्रायः वाक्य एक शब्द के होते हैं।

उदाहरणस्वरूप

हीरा—तुम घर कब आओगे?

मोती—कल। और तुम?

हीरा—परसों।

मोती—और मोहन गया क्या?

हीरा—हाँ।

क्या यहाँ कल', परसों', हाँ' वाक्य नहीं हैं। इसी प्रकार खाओ', जाओ', लिखिए', पढ़िए', चलिए' आदि भी एक ही शब्द के वाक्य होते हैं। यह बात दूसरी है कि ऐसे वाक्य पूरे वाक्य में शब्दों का लोप करके बताए जाते हैं तथा बोलचाल में प्रायः प्रयुक्त होते हैं।

अर्थ की दृष्टि से वाक्य की पूर्णता भी कम विवादास्पद नहीं है। उसे पूर्णतः पूर्ण नहीं कहा जा सकता। कुछ उदाहरण लिए जा सकते हैं। प्रायः अपने किसी भाव को हम कई

वाक्यों द्वारा व्यक्त करते हैं। यहाँ भाव अपने में पूर्ण हैं और कई वाक्य मिलकर उसे व्यक्त करते हैं, अतएव निश्चय ही ये वाक्य पूर्ण के खंड मात्र हैं, अतः अपूर्ण हैं। यह विवाद यहीं समाप्त नहीं हो जाता। मनोविज्ञानवेत्ता उस भाव या एक पूरी बात को भी अपूर्ण मानता है, क्योंकि जन्म से लेकर मृत्यु तक उसके अनुसार भाव की एक ही अविच्छिन्न धारा प्रवाहित होती रहती है और बीच में आने वाले छोटे-छोटे सारे भाव या बातें उस धारा की लहरें मात्र हैं, अतएव वह अविच्छिन्न धारा की पूर्णता की तुलना में एक भाव या विचार भी बहुत अपूर्ण है तो फिर एक वाक्य की पूर्णता का तो कहना ही क्या, जो पूरे भाव या विचार का एक छोटा खंड मात्र है। पर दूसरे धरातल पर बात लें।

मान लीजिए किसी उपन्यास में बीच में एक वाक्य होता है—

उसने उससे वह बात कह दी।’

क्या यह वाक्य अर्थ की दृष्टि से पूरा है। यदि किसी से यह वाक्य कहें तो क्या वह इससे पूरी बात समझ जाएगा? शायद नहीं। अर्थात् वाक्य अर्थ की दृष्टि से पूर्ण नहीं भी हो सकता है। फिर वाक्य की परिभाषा क्या हो? वस्तुतः वाक्य की कोई ऐसी परिभाषा दे पाना काफी कठिन है जो दुनिया की सारी भाषाओं पर लागू हो। कामचलाऊ परिभाषा कुछ इस प्रकार की हो सकती है—

वाक्य भाषा की वह सहज इकाई है जिसमें एक या अधिक शब्द होते हैं तथा जो अर्थ की दृष्टि से पूर्ण हो या अपूर्ण, व्याकरणिक दृष्टि से अपने विशिष्ट संदर्भ में अवश्य पूर्ण होती है, साथ ही उसमें प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कम से कम एक समापिका क्रिया अवश्य होती है।

वाक्य की आवश्यकताएँ

भारतीय दृष्टि से वाक्य की वाक्य रचना के आवश्यक अंग रचना के लिए 5 बातें आवश्यक हैं— सार्थकता, योग्यता, आकांक्षा, सन्निधि और अन्विति। 1. सार्थकता— का आशय यह है कि वाक्य के शब्द सार्थक होने चाहिये। 2. योग्यता— का आशय यह है कि शब्दों की आपस में संगति बैठे। शब्दों में प्रसंगानुकूल भाव का बोध कराने की योग्यता या क्षमता हो।

वह पेड़ को पत्थर से सींचता है’ वाक्य में शब्द तो सार्थक हैं, किन्तु पत्थर से सींचना नहीं होता, इसलिए शब्दों की परस्पर योग्यता की कमी है, अतः यह सामान्य अर्थ में वाक्य नहीं है। उलटबाँसी भले हो। 3. आकांक्षा— का अर्थ है ‘इच्छा’। अर्थात् जानने की इच्छा’, अर्थात्

अर्थ की अपूर्णता'। वाक्य में इतनी शक्ति होनी चाहिये कि वह पूरा अर्थ दे। उसे सुनकर भाव पूरा करने के लिए कुछ जानने की आकांक्षा न रहे। 4. सन्निधि या आसत्ति— का अर्थ समीपता। वाक्य के शब्द समीप होने चाहिए। उपर्युक्त सभी बातों के रहने पर भी, यदि एक शब्द आज कहा जाए, दूसरा कल और तीसरा परसों तो उसे वाक्य नहीं कहा जाएगा। 5. अन्विति— का अर्थ है व्याकरणिक दृष्टि से एकरूपता। अंग्रेज़ी में इसे कन्कार्डेन्स कहते हैं। विभिन्न भाषाओं में इसके विभिन्न रूप मिलते हैं। यह समानरूपता प्रायः वचन, कारक, लिंग और पुरुष आदि की दृष्टि से होती है। हिन्दी में क्रिया प्रायः लिंग, वचन, पुरुष में कर्ता के अनुकूल होती है। 'सीता गये' न तो ठीक वाक्य है और 'न राम जा रही है', क्योंकि यहाँ न तो 'सीता' और 'गये' न तो ठीक वाक्य है और 'जा रही है' में। अंग्रेज़ी में क्रिया पुरुष, वचन की दृष्टि से कर्ता के अनुसार होती है, किन्तु लिंग की दृष्टि से नहीं। प्राचीन भाषाओं में विशेषण और विशेष्य में भी अन्विति मिलती है। संस्कृत में 'सुन्दरं फलम् किन्तु सुन्दरः बालकः'। लैटिन में अच्छी लड़की, अच्छा लड़का। हिन्दी में आकारांत विशेषणों में ही ऐसा होता है। जैसे अच्छा लड़का, अच्छी लड़की। अन्य में नहीं, जैसे चतुर लड़का, चतुर लड़की। अंग्रेज़ी में विशेषण—विशेष्य अन्विति बिल्कुल नहीं है। इस प्रकार इस भाषा में अन्विति के अपने नियम होते हैं।

मीमांसकों के सिद्धान्त अभिहितान्वयवाद के अनुसार वाक्य में आकांक्षा, (अन्विति भी इसमें समाहित) तथा आसत्ति में तीन अपेक्षित हैं।

वाक्य के अंग

वाक्य के दो अंग होते हैं— 1. **उद्देश्य—वाक्य** का वह अंग अथवा अंश जिसके बारे में वाक्य के शेषांश में कुछ कहा गया हो। जैसे 'लड़का गया' में 'लड़का'। उद्देश्य में 'केन्द्रीय शब्द' तथा 'उसका विस्तार' आ सकता है। 'लड़का गया' में 'लड़का' केन्द्रीय शब्द है, किन्तु 'राम का लड़का गया' में 'राम का' उसका विस्तार है और उद्देश्य है 'राम का लड़का'। 2. **विधेय—** वाक्य का वह अंश है जो उद्देश्य के बारे में सूचना दे। इसमें क्रिया और उसका विस्तार होता है। 'लड़का गया' में 'गया', 'लड़का घर गया' में 'घर गया' तथा 'लड़का अभी घर गया है' में 'अभी घर गया है' विधेय है।

उद्देश्य-विधेय का वर्गीकरण विश्व की काफी भाषाओं पर लागू होता है, किन्तु सभी भाषाओं पर नहीं होता।

वाक्य-रचना

वाक्य की रचना पदों से होती है। इस रचना में मुख्यतः चार बातें ध्यान देने की होती हैं—

पदक्रम या शब्दक्रम— विश्व में काफी भाषाएँ ऐसी हैं, जिनमें 'पदक्रम' का वाक्य-रचना में महत्वपूर्ण स्थान है। चीनी आदि स्थान-प्रधान भाषाओं में तो यह बहुत ही महत्वपूर्ण है, किन्तु अंग्रेजी, हिन्दी आदि वियोगात्मक भाषाओं में भी इसके महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इनमें एक सीमा तक वाक्य में शब्दों का स्थान निश्चित है। जैसे हिन्दी में प्रायः कर्ता पहले, कर्म, बाद में तथा क्रिया वाक्य के अन्त में आती है—

राम ने मोहन को मार डाला।

इसके विपरीत अंग्रेजी में क्रिया बीच में आती है तथा कर्म बाद में—

पससमक डवींदण

इसी प्रकार विशेषण-विशेष्य, क्रियाविशेषण-क्रिया, एक साथ आए कई विशेषण अथवा क्रियाविशेषण, पदबंधों तथा उपवाक्यों का भी हर भाषा में विशेष क्रम होता है।

वाक्य में पद-क्रम की दृष्टि से भाषाएँ दो प्रकार की हैं। एक तो वे हैं जिनमें वाक्य में शब्दों का स्थान निश्चित नहीं है। इन भाषाओं में शब्दों में विभक्ति लगी होती है, अतएव किसी भी शब्द को उठाकर कहीं रख दें, अर्थ में परिवर्तन नहीं होता।

दूसरी प्रकार की भाषाएँ वे होती हैं, जिनमें वाक्य में शब्द का क्रम निश्चित रहता है।

वाक्य-अन्वय' का अर्थ है व्याकरणिक अनुरूपता। विभिन्न भाषाओं में विशेषण-विशेष्य, कर्ता-क्रिया, कर्म-क्रिया तथा कर्ता-क्रिया विशेषण आदि विभिन्न व्याकरणिक कोटियों में लिंग, वचन, पुरुष तथा मूल और विकृत रूप आदि की अनुरूपता होती है। यहाँ दो बातें ध्यान देने की हैं— क. हर भाषा के अन्वय के नियम अलग-अलग होते हैं। ख. अलग-अलग भाषाओं में अलग-अलग चीजों का अन्वय होता है। जैसे संस्कृत में कर्ता-क्रिया में लिंग का अन्वय नहीं है, किन्तु हिन्दी में है—

रामः गच्छति—राम जाता है।

सीता गच्छति—सीता जाती है।

ऐसे ही हिन्दी में विशेषण में भी वचन तथा लिंग का अन्वय हैं, किन्तु अंग्रेजी में नहीं है।

लोप—वाक्य रचना में सभी अपेक्षित शब्दों का प्रयोग सर्वदा नहीं किया जाता। कभी—कभी कुछ का लोप भी हो जाता है। किन्तु यह लोप कुछ ही का हो सकता और वे निश्चित होते हैं। 'राम जा रहा है' वाक्य का नकारात्मक रूप होगा 'राम नहीं जा रहा' यहाँ 'है' का लोप है।

इसी तरह 'राम जाता है' का नकारात्मक रूप पहले होता था—

'राम नहीं जाता है। किन्तु अब होता है राम नहीं जाता।'

बोलचाल में केवल मुख्य सूचक शब्द अथवा शब्दों का ही प्रयोग करते हैं, बाकी का लोप कर देते हैं—

गौतम—तुम कहाँ गये थे?

हरि—घर। ('गया था' का लोप है)

लोप कई प्रकार का हो सकता है, और उतने ही प्रकार के अध्याहार भी होते हैं— 1. कर्त्ता का— सुना है उसका भाई मर गया, देखते हो कि अपनी ही जान संकट में है क्या करूँ और क्या न करूँ? 2. कर्म का— मोहन आम लाया है, तुम भी लाओ। करण आदि कुछ अन्यों का भी हो सकता है। 3. क्रिया का— लोकोक्तियों में ऐसा प्रायः होता है। घर की मुर्गी दाल बराबर, घर का जोगी जंगड़ा आन गाँव का सिद्ध। राम नहीं जा रहा, राम अब नहीं गाता। 4. वाक्यांश का— अ. प्रश्नोत्तर में प्रश्न—तुम्हारा नाम क्या है? उत्तर—मोहन ('मेरा नाम' का तथा 'है' का लोप तथा अध्याहार)। अ. अन्यत्र— वह ऐसा सीधा है जैसे गाय ('सीधी होती है' का)।

आगम—

कभी आवश्यक न होने पर भी कुछ अतिरिक्त शब्दों का आगम कर दिया/लिया जाता है। कृपया यहाँ बैठिए, ऊपर सूरज की ओर देखिए। यदि बल देने के लिए अपेक्षित न हो तो ऐसे अतिरिक्त शब्दों से बचना चाहिए। कुछ लोग कहते हैं— कृपया मेरे घर आने की कृपा करें, वह वापस लौट आया, वह सज्जन व्यक्ति है, मैंने विंध्याचल पर्वत देखा है। इस प्रकार के आगम एक प्रकार की पुनरुक्ति होते हैं।

पदबंध—

जब एक से अधिक पद, एक में बँधकर एक व्याकरणिक इकाई का कार्य करें तो उस बँधी इकाई' को पदबन्ध कहते हैं।

उदाहरण के लिए— वहाँ पेड़ हैं।

सौरभ के मकान के चारों ओर पेड़ हैं।

आजकल 'पद' शब्द के स्थान पर भी 'पदबंध' शब्द का प्रयोग विशेष संदर्भों में हो रहा है।

वाक्यों के प्रकार—

अ. पीछे भाषाओं के आकृतिमूलक वर्गीकरण में हम लोग इसे देख चुके हैं। संसार की सभी भाषाओं पर विचार करने में हमें चार प्रकार के वाक्य दिखाई पड़ते हैं। कुछ समय पहले लोगों का विचार था कि सभी भाषाओं में समय—समय पर ये चारों प्रकार के वाक्य पाये जाते हैं, अर्थात् विकास—चक्र के ये चार विराम मात्र हैं। किन्तु, अब यह चीज निर्मूल सिद्ध हो चुकी है। कोई भाषा इन चारों प्रकार के वाक्यों में नहीं जा सकती। यहाँ संक्षेप में वाक्य के इन चारों प्रकारों पर पृथक—पृथक विचार किया जा रहा है—

अयोगात्मक—अयोगात्मक वाक्य में शब्द अलग—अलग रहते हैं और उनका स्थान निश्चित रहता है। इसका कारण यह है कि यहाँ सम्बन्धत्व दिखाने के लिए शब्दों में कोई परिवर्तन नहीं किया जाता, अतः सम्बन्ध का प्राकट्य शब्दों के स्थान से ही होता है। यह पदक्रम की निश्चितता एकाक्षर परिवार की चीनी आदि भाषाओं में प्रधान रूप से मिलती है। भारोपीय कुल की आधुनिक भाषाओं में भी कुछ ऐसी प्रवृत्ति दिखाई दे रही है। संस्कृत, ग्रीक आदि प्राचीन भारोपीय भाषाएँ श्लिष्ट—योगात्मक थीं, किन्तु उनसे विकसित अंग्रेजी, हिन्दी और आधुनिक भाषाएँ वियोगात्मक हो गई हैं। पदक्रम यहाँ भी कुछ—कुछ निश्चित हो गया है—

राम मोहन को मारा।

मोहन राम को मारा।

दोनों शब्दा एक ही ही हैं, किन्तु स्थान—परिवर्तन से अर्थ उलटा हो गया है। हिन्दी में भी लगभग यही बात है। किन्तु भारोपीय परिवार की भाषाएँ अभी चीनी जैसी आयोगात्मक नहीं

हैं, अतः पदक्रम उतने निश्चित नहीं हैं। हिन्दी में कर्ता पहले और क्रिया बाद में आती है, पर इसके अपवाद भी मिलते हैं। इसी प्रकार अंग्रेजी में प्रश्नवाचक आदि वाक्यों में यह साधारण नियम टूट जाता है। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि भाषा अयोगात्मकता की ओर जितनी ही जाती है, उसके वाक्यों में पदक्रम का महत्व उतना ही बढ़ता जाता है। अयोगात्मक वाक्य का उदाहरण अयोगात्मक भाषाओं के विवेचन में दिया जा चुका है।

योगात्मक— प्रश्लिष्ट—योगात्मक वाक्यों के सभी शब्द मिलकर एक बड़ा शब्द बन जाते हैं। ऐसा होने में उनका थोड़ा—थोड़ा अंश कट जाता है। मेक्सिकन भाषा में—

क त्र खाना

नकल्ल त्र माँस

नेवत्ल त्र मैं

तीनों को मिलाकर

नीनकक त्र मैं माँस खाता हूँ।

इन वाक्यों को विश्लेषण आसानी से नहीं किया जा सकता, इसी से इनके शब्दों के योग को प्रश्लिष्ट कहा जाता है। इस प्रकार की रचना प्रश्लिष्ट योगात्मक कहलाती है। योगात्मक के प्रश्लिष्ट, अश्लिष्ट और श्लिष्ट ये तीन प्रकार हो सकते हैं।

अ. रचना के आधार पर वाक्य के निम्नलिखित भेद होते हैं—

सरल वाक्य— इसमें एक उद्देश्य और एक विधेय होता है। जैसे 'लड़का गया'। हिन्दी आदि कुछ भाषाओं में सरल वाक्य पाँच प्रकार के होते हैं— 1. अकर्मकीय—सौरभ हँसता है। 2. एककर्मकीय—राजीव चावल खाता है। 3. द्विकर्मकीय—मुकुल अलका को पत्र लिखता है। 4. कर्तृ पूरकीय—फूल सुंदर है। 5. कर्मपूरकीय—संजय विजय को मूर्ख बनाता है।

उपवाक्य— जब दो या अधिक सरल वाक्यों को मिलाकर एक वाक्य बना देते हैं तो उस एक वाक्य में जो वाक्य मिले होते हैं, उन्हें उपवाक्य कहते हैं। उपवाक्य दो प्रकार के होते हैं— क. आश्रित उपवाक्य— जो प्रधान न होकर गौण अथवा दूसरे के आश्रित हो। जैसे 'वह लड़का चला गया जो सबसे अच्छा था' में 'जो सबसे अच्छा था' आश्रित है। आश्रित उपवाक्य तीन प्रकार के होते हैं— 1. संबा उपवाक्य— जो कर्म या पूरक रूप में संज्ञा का काम करे। जैसे— मैं जानता हूँ कि वह उत्तीर्ण नहीं हो सकता। 2. विशेषण उपवाक्य— जो किसी संज्ञा की

विशेषता बतलाए। जैसे— वह छात्र उत्तीर्ण हो जाएगा जो परिश्रम करेगा। क्रियाविशेषण उपवाक्य— जो किसी क्रिया की विशेषता बतलाए। जैसे जब भी वह मेरे सामने आती है, मेरा हृदय करुणा से भर जाता है। ख. प्रधान उपवाक्य— किसी वाक्य में जो उपवाक्य आश्रित या गौण न होकर प्रधान हो। उपर्युक्त वाक्यों में आश्रित उपवाक्य के अतिरिक्त जो उपवाक्य हैं, प्रधान उपवाक्य हैं— वह छात्र उत्तीर्ण हो जाएगा, जो परिश्रम करेगा।

मिश्र वाक्य— जिसमें एक प्रधान उपवाक्य तथा एक या अधिक आश्रित उपवाक्य हों। जैसे— मैं चाहता हूँ कि तुम डाक्टर बनो।

संयुक्त वाक्य— जिस वाक्य में कोई भी उपवाक्य प्रधान अथवा आश्रित न हो। जैसे— गिलास हाथ से गिरा और टूट गया।

इ भाव या अर्थ की दृष्टि से वाक्य के अनेकानेक भेद हो सकते हैं, जिनमें प्रधान नीचे दिए जा रहे हैं—

1. विधानसूचक—राम जाता है।
2. निषेधसूचक—राम नहीं जाता।
3. आज्ञासूचक— यह काम करो।
4. प्रश्नसूचक— तुम्हारा क्या नाम है?
5. विस्मयसूचक—अरे यह क्या किया।
6. संदेहसूचक—वह आया होगा।
7. इच्छासूचक—ईश्वर तुम्हें दीर्घायु करे।

ई भाषा में क्रिया का स्थान प्रमुख है। वह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में अवश्य वर्तमान रहती है। संस्कृत, लैटिन आदि बहुत—सी पुरानी भाषाओं में तथा बँगला, रूसी आदि आधुनिक भाषाओं में बिना क्रिया के भी वाक्य मिलते हैं, किन्तु सामान्यतः वाक्य क्रियायुक्त होता है। इस प्रकार क्रिया के होने और न होने के आधार पर वाक्य दो प्रकार के हो सकते हैं—

क्रियायुक्त वाक्य— जिसमें क्रिया हो। कहना न होगा कि अधिकांश भाषाओं के अधिकांश वाक्य इसी प्रकार के होते हैं।

क्रियाविहीन वाक्य—जिसमें क्रिया न हो। संस्कृत, बँगला, रूसी आदि कुछ भाषाओं में यह प्रवृत्ति विशेष रूप से मिलती है, यद्यपि कुछ सीमित कालों में। यों समाचार—पत्रों के शीर्षकों (देश की

आजादी फिर खटाई में' या कुतुबमीनार से कूदकर आत्महत्या' आदि), लोकोक्तियों (जैसे नागनाथ वैसे साँपनाथ', हाथी के दाँत खाने के और दिखाने के और या आँख के अंधे नाम नयनसुख' आदि), विज्ञापनों (सुन्दर और मजबूत गाड़ी केवल—रूपये में आदि) तथा काव्य—भाषा में क्रियाहीन वाक्य प्रायः दिखाई पड़ते हैं।

वाक्य—रचना में परिवर्तन

किसी भाषा की वाक्य—रचना हमेशा एक—सी नहीं रहती। उसमें परिवर्तन आते रहते हैं। इसी तरह मूल भाषा की तुलना में उससे निकली भाषा की वाक्य—रचना में भी परिवर्तन हो जाता है। उदाहरण के लिए, संस्कृत वाक्य—रचना में कर्ता या कर्म के लिंग का क्रिया पर प्रभाव नहीं पड़ता था, किन्तु संस्कृत से ही निकली हिन्दी में ऐसा प्रभाव पड़ता है— गच्छति, सीता गच्छति, राम जाता है, सीता जाती है।

वाक्य—रचना में परिवर्तन के कारण

किसी भाषा की वाक्य—रचना में परिवर्तन के मुख्य कारण निम्नांकित हैं—

1. अन्य भाषा का प्रभाव— किसी अन्य भाषा के प्रभाव से भाषा की वाक्य—रचना प्रायः प्रभावित होती है, किन्तु ऐसा तभी होता है जब प्रभावित करने वाली भाषा प्रभावित भाषा के बोलने वालों के लिए अत्यावश्यक होकर उनके शिक्षा व्यवहार का महत्त्वपूर्ण अंग हो। मध्यकाल में मुगल दरबार की भाषा फारसी थी, अतः उसका पठन—पाठन काफ़ी होता था। इसी कारण उसका हिन्दी की काव्य—रचना पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। उदाहरण के लिए संस्कृत, पालि, प्राकृत अपभ्रंश में आदर के लिए बहुवचन के प्रयोग की परम्परा विशेष नहीं थी, किन्तु फारसी में यह परम्परा पूरी तरह से थी। उसी के प्रभावस्वरूप हिन्दी में यह परम्परा आई जिसका परिणाम है—

मेरा चपरासी आ रहा है।

मेरे अध्यापक आ रहे हैं।

कि' का प्रयोग भी हिन्दी पर फ़ारसी प्रभाव है—

मैं चाहता हूँ कि वह चला जाए।

अंग्रेज़ी ने भी हिन्दी को इसी तरह प्रभावित किया है। कुछ उदाहरण लिए जा सकते हैं। हिन्दी का एक वाक्य है—

वह आदमी जो कल आया था, चोर था।

इस वाक्य में 'वह' अंग्रेजी द की छाया है—

हिन्दी का प्राकृत वाक्य होगा—

जो आदमी कल आया था, चोर था।

इसी प्रकार कई संज्ञाओं या क्रियाओं के एक साथ आने पर अंतिम दो के बीच में 'और' का प्रयोग भी हिन्दी पर अंग्रेजी का प्रभाव है—

राम, मोहन और श्याम खेल रहे हैं।

मैं शेव करूँगा, नहाऊँगा और खाऊँगा।

भविष्य काल के लिए अपूर्ण वर्तमान का हिन्दी में प्रयोग भी अंग्रेजी का प्रभाव है।

उदाहरण के लिए ऐसे वाक्य खूब चलते हैं—

क. प्रधानमंत्री अगले महीने यूरोप जा रही हैं।

ख. पिता जी कल आ रहे हैं।

ग. अगले सप्ताह शहर में सरकस आ रहा है।

ध्वनि-परिवर्तन से विभक्तियों और प्रत्ययों का घिस जाना— विभक्तियों के घिस जाने से अर्थ को समझने में कठिनाई होने लगती है, अतः वाक्य में सहायक शब्द (परसर्ग, सहायक क्रिया) जोड़े जाने लगते हैं, साथ ही वाक्य में पदक्रम निश्चित हो जाता है।

नवीनता—

नवीनता के लिए कभी-कभी नये प्रयोग चल पड़ते हैं। उनसे भी वाक्य-रचना-पद्धति में परिवर्तन आते हैं। उदाहरण के लिए हिन्दी में 'मात्र' का प्रयोग संज्ञा के बाद होता रहा है, तब नवीनता के लिए संज्ञा के पहले इसका प्रयोग होने लगा है—

मुझे दस रुपये मात्र चाहिए : मुझे मात्र दस रुपये चाहिए।

इसी तरह ऐसे विशेषण पदबंध जो संज्ञा शब्दों में पहले आते रहते हैं, अब बाद में रखे जाने लगे हैं—

क. रात भर की बात : बात रात भर की।

ख. तीन दिन की बादशाहत : बादशाहत तीन दिन की।

बोलने वालों की मानसिक स्थिति में परिवर्तन— युद्धकालीन, शांतिकालीन या प्रसन्न व्यक्ति की, दुखी व्यक्ति की वाक्य—रचना एक नहीं होती। वस्तुतः वाक्य—रचना वक्ता की मानसिक स्थिति पर बहुत कुछ निर्भर करती है।

संक्षेप—नहीं जाता है—नहीं जाता।

बल के लिए क्रम—परिवर्तन— जाऊँगा तो—जाऊँ तो गा, कानपुर ही—कान ही पुर—

वाक्य—रचना में परिवर्तन की दिशाएँ

वाक्य—रचना में परिवर्तन मुख्य रूप से निम्नांकित रूपों या दिशाओं में होता है—

वचन—संबंधी परिवर्तन—भाषाओं के विकास में वाक्य—रचना में वचन—संबंधी परिवर्तन प्रायः हो जाते हैं। संस्कृत में द्विवचन भी था, अतः दो के लिए अलग कारकीय रूप होते थे और उसके साथ क्रिया के द्विवचन के रूप प्रयुक्त होते थे, हिन्दी में आते—आते द्विवचन का लोप हो गया तो 'दो' की संख्या 'बहुवचन' कारकीय रूप में लगाकर द्विवचन का भाव व्यक्त किया जाने लगा।

लिंग—संबंधी परिवर्तन— संस्कृत में कर्ता या कर्म के लिंग के अनुसार क्रिया—परिवर्तित नहीं होती थी, किन्तु हिन्दी में परिवर्तित होती है—

रामः गच्छति ३ राम जाता है।

सीता गच्छति ३ सीता जाती है।

पहले हिन्दी में स्त्रीलिंग प्रयोग था—

अब हम जा रही हैं।

अब प्रायः लड़कियाँ और महिलाएँ प्रयोग करने लगी हैं—

हम जा रहे हैं—

पंजाबी लोग हिन्दी में 'माताजी आ रहे हैं' जैसे प्रयोग करते हैं, जो अशुद्ध है।

पुरुष—संबंधी परिवर्तन—पहले प्रयोग चलता था— राम ने कहा कि मैं जाऊँगा—अब अंग्रेजी के प्रभाव से सुनने में आने लगा है राम ने कहा कि वह जाएगा।

लोप—पूर्ववर्ती प्रयोगों में कुछ लुप्त हो जाने से वाक्य अपेक्षाकृत छोटे हो जाते हैं। जैसे हिन्दी में—

प्राचीन प्रयोग—राम नहीं आता है।

नया प्रयोग—राम नहीं आता ।

आगम— अतिरिक्त शब्दों के आ जाने से वाक्य बड़े हो जाते हैं । हिन्दी में पुराना प्रयोग था—

राम ने कहा मैं जाऊँगा ।

फ़ारसी प्रभाव के कारण 'कि' आ गया—

राम ने कहा कि मैं जाऊँगा ।

हिन्दी का प्राकृत प्रयोग है—

जो लड़का आया था, चला गया ।

अब अंग्रेजी प्रभाव के कारण एक अतिरिक्त शब्द 'वह' प्रयुक्त होने लगा है—

वह लड़का जो आया था, चला गया ।

पदक्रम में परिवर्तन— वाक्य—रचना इससे भी प्रभावित होती है । विभक्ति—लोप, नये प्रयोग आदि के कारण पदक्रम परिवर्तित होता रहता है । संस्कृत और हिन्दी की तुलना करें तो संस्कृत में पदक्रम बहुत निश्चित नहीं था, किन्तु हिन्दी में वह काफ़ी निश्चित हो गया है । यह एक बहुत बड़ा परिवर्तन है । इधर हाल में भी हिन्दी में, पदक्रम—संबंधी कई परिवर्तन हुए हैं । दो का उल्लेख ऊपर हो चुका है— 1. मात्र संज्ञा के पूर्व प्रयोग—मात्र दस रूपये । 2. विशेषण पदबंध का संज्ञा के बाद प्रयोग— दूल्हन, एक रात की । बल देने के लिए हिन्दी में पदक्रम में काफ़ी परिवर्तन किये जाते हैं ।

अर्थ विज्ञान सिद्धान्त

जैसा कि नाम से स्पष्ट है— अर्थविज्ञान 'अर्थ का विज्ञान' है। इसमें भाषा के अर्थ—पक्ष का वैज्ञानिक अध्ययन—विश्लेषण किया जाता है। अर्थविज्ञान वर्णनात्मक (संरचनात्मक), ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक— इन तीनों प्रकारों का होता है।

अर्थविज्ञान का यह एक मूलभूत प्रश्न है कि अर्थ क्या है? वाक्यपदीयकार भर्तृहरि कहते हैं—

यस्मिस्तूच्चरिते शब्दे यदा योऽर्थःप्रतीयते ।

तमाहुरर्थं तस्थैव नान्यर्थस्य लक्षणम् ।।

अर्थात् शब्द के उच्चारण से जिसकी प्रतीति होती है, वही उसका अर्थ है, अर्थ का कोई दूसरा लक्षण नहीं है। वस्तुतः भर्तृहरि की बात अपने स्थान पर ठीक होते हुए भी कुछ आलोचना की अपेक्षा रखती है। क्या अर्थ केवल 'शब्द' का ही होता है? राम मारे शर्म के 'पानी—पानी हो गया' में 'पानी—पानी हो' शब्द तो नहीं है, किन्तु यहाँ अर्थ की अपेक्षित प्रतीति केवल 'पानी' शब्द से नहीं हो सकती। वह 'पानी—पानी होना' से ही हो सकती है। अतः कहा जा सकता है कि 'किसी भी भाषिक इकाई को किसी भी इन्द्रिय से ग्रहण करने पर जो मानसिक प्रतीति होती है, वही अर्थ है।'

अर्थ की प्रतीति

अर्थ की प्रतीति दो प्रकार से होती है—

आत्म—अनुभव से— अर्थात् स्वयं किसी चीज़ का अनुभव करके। उदाहरण के लिए 'चीनी मीठी होती है' में 'मीठी' के अर्थ की प्रतीति स्वयं चीनी चखने से हो जाती है। 'पानी, गर्मी, धूप' के अर्थ की प्रतीति भी इसी प्रकार हो सकती है।

पर—अनुभव से— अनेक क्षेत्र ऐसे भी होते हैं जहाँ हमारी पहुँच नहीं होता, उस क्षेत्र से सम्बद्ध शब्दादि के अर्थ की प्रतीति के लिए दूसरों के अनुभव या ज्ञान पर निर्भर करना पड़ता है। उदाहरण के लिए, हममें से अनेक लोगों ने 'जहर' नहीं देखा होगा, किन्तु दूसरों से ऐसा सुन रखा है कि 'जहर' जीव को मार डालने वाला होता है। अतः 'जहर' शब्द के अर्थ की प्रतीति का मूलाधार आत्म—अनुभव न होकर पर—अनुभव है। ऐसे ही आत्मा, ईश्वर आदि अन्य भी अनेक प्रकार के शब्द हो सकते हैं।

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध

भाषा में यह प्रश्न अनादि काल से उठता रहा है कि शब्द और अर्थ का क्या सम्बन्ध है। क्यों 'पानी' कहने से 'पानी' का ही बोध होता है, 'मिट्टी' या 'काठ' का नहीं। क्या

'पानी' शब्द और पानी द्रव्य का कोई संबंध है? पहले हम देख चुके हैं कि भाषा यादृच्छिक ध्वनि-प्रतीकों की व्यवस्था है। इसका अर्थ यह है कि भाषा के शब्द प्रतीक हैं। कुछ अपवादों को छोड़ दें तो शब्द और अर्थ का कोई स्वाभाविक एवं सहज संबंध नहीं है। समाज ने यह संबंध मान लिया है, या कहें कि समाज ने विभिन्न शब्दों को विभिन्न अर्थों में प्रतीक के रूप में स्वीकार कर लिया है। शब्द विशिष्ट अर्थों के प्रतीक या संकेत हैं, इसीलिए उन शब्दों के प्रयोग से श्रोता उन्हीं अर्थों को ग्रहण करता है। उदाहरण के लिए, समाज ने

'पानी' शब्द को या 'प+आ+न+ई' ध्वनियों के समूह को 'पानी' द्रव्य के लिए संकेत या प्रतीक मान रखा है, इसीलिए पानी कहने से उसी का बोध होता है, किसी और चीज़ का नहीं। किन्तु यदि कल हिन्दीभाषी समाज यह निर्णय कर ले कि 'पानी' शब्द किसी और वस्तु का वाचक माना जाएगा तो कल से 'पानी' शब्द का अर्थ पानी न रहकर वही वस्तु हो जाएगा। हम जानते हैं कि 'बाथरूम', 'टॉयलेट', 'क्लोकरूम' के अर्थ इसी प्रकार मान लेने से बदल गये हैं। भारतीय परम्परा में इसी को दृष्टि में रखते हुए शब्द के साथ किसी वस्तु के संबंध-स्थापन को संकेत-ग्रह कहा गया है। संकेत-ग्रह के कारण ही शब्द अर्थविशिष्ट का बोध कराता है।

अर्थबोध के साधन—भारतीय परम्परा में अर्थबोध के आठ साधन माने गए हैं—

1. व्यवहार— व्यवहार अर्थबोध का सबसे प्रमुख साधन है। समाज में तरह-तरह के व्यवहार से भाषा के अनेक शब्दों के अर्थ का हमें बोध होता है।
2. कोश— अनेक शब्दों का अर्थबोध हमें कोशों से होता है। कोश ज्ञात शब्दों के अर्थ के आधार पर अज्ञात शब्द का अर्थबोध कराते हैं।
3. व्याकरण—व्याकरण से भी अर्थबोध होता है। उदाहरण के लिए, हमें पता हो कि मानव का अर्थ क्या है और यह भी पता हो कि हिन्दी में 'ता' प्रत्यय भावबोधक संज्ञा बनाने के लिए आता है तो हम 'मानवता' का अर्थ जान जाएँगे।

4. प्रकरण— इसे वाक्य-शेष' भी कहा गया है। अनेकार्थी शब्दों का विशेष प्रयोग में प्रकरण या संदर्भ से अर्थ ज्ञात होता है। उदाहरण के लिए, धातु का व्याकरण में एक अर्थ है, किन्तु सामान्यतः सोना-चाँदी आदि धातुएँ हैं। इसी प्रकार 'गोली' एक प्रकरण में 'बन्दूक की गोली' है तो दूसरे प्रकरण में 'दवा की गोली', तीसरे सन्दर्भ में 'गोलकीपर' और चौथे में बच्चों के खेलने की 'गोली'।
5. व्याख्या— इसे 'विवृति' भी कहा गया है। बहुत से शब्दों का अर्थबोध व्याख्या के द्वारा ही कराया जा सकता है। जैसे भाषाविज्ञान का 'अघोष', दर्शन का 'विशिष्टाद्वैत', या साहित्यशास्त्र की 'ध्वनि'।
6. उपमान— किसी वस्तु के समान वस्तु का अर्थबोध उस वस्तु को उपमान बनाकर कराया जा सकता है। जैसे गदहे या घोड़े से खच्चर, कुत्ते से भेड़िया, गाय से नीलागाय आदि का।
7. आप्तवाक्य— महान्, विद्वान्, प्रसिद्ध, सिद्ध या पहुँचे हुए लोगों के वाक्य भी कभी-कभी अर्थबोध कराते हैं। अस्थावान् लोगों का ईश्वर, स्वर्ग, नरक, आत्मा, पुनर्जन्म जैसे शब्दों का अर्थबोध मुख्यतः धर्मग्रन्थों पर आधारित है।
8. ज्ञात का सान्निध्य— ज्ञात शब्दों के सान्निध्य से भी कभी-कभी अज्ञात शब्द का अर्थबोध हो जाता है। उदाहरण के लिए, एक वाक्य ले : 'बासमती का भात, श्यामजीरा से अच्छा होता है'। इस वाक्य का पाठक बासमती और भात के सान्निध्य से समझ जाएगा कि श्यामजीरा किसी चावल का नाम है। इनके अतिरिक्त
9. बलाघात— (ओढ़ना—ओढ़ना)
10. सुरलहर (मोहन गया?, मोहन गया!)
11. अनुवाद, आदि कई अन्य साधनों से भी अर्थबोध होता है।

अर्थ-विज्ञान में यों तो अर्थ-संबंधी अनेकानेक विषयों पर विचार किया जाता है, किन्तु यहाँ कुछ थोड़े से मुख्य विषय ही लिए जा रहे हैं।

अर्थ-परिवर्तन

प्रत्येक शब्द का अर्थ होता है, किन्तु यह 'अर्थ' सर्वदा एक नहीं रहता। उसमें परिवर्तन होता रहता है। उदाहरण के लिए, संस्कृत का शब्द आकाशवाणी लें। संस्कृत में

इसका अर्थ 'देववाणी' है। तुलसी के समय में भी यही अर्थ था। रामचरितमानस (1-173-3) में आता है— 'भैं अकासबानी तेहि काला', अर्थात् उस समय देववाणी हुई। अब आकाशवाणी का अर्थ परिवर्तन होकर 'रेडियो' हो गया है। संस्कृत का ही एक दूसरा शब्द जंघ लें। इसका प्रयोग संस्कृत भाषा में पैर के उस भाग के लिए होता है जो घुटने से नीचे होता है, किन्तु हिन्दी में यही शब्द जंघा रूप में मिलता है, और इसका अर्थ पैर का वह भाग होता है जो घुटने के ऊपर होता है। इस प्रकार जंघा का अर्थ—परिवर्तन हो गया है। 'गँवार' शब्द का इतिहास भी अर्थ—परिवर्तन का अच्छा उदाहरण है। पालि भाषा में प्राप्त कर ग्रामदोरको से अनुमान लगता है कि संस्कृत में यह शब्द ग्रामदारकः रहा होगा, जिसका अर्थ था 'गाँव का रहने वाला', 'गाँव का लड़का' अथवा 'गाँव वाला'। हिन्दी आदि आधुनिक भाषाओं में यह शब्द 'गँवार', 'गँयार', 'गमार' आदि रूपों में मिलता है तथा इसका अर्थ 'असभ्य' और 'मूर्ख' हो गया है। तो हमने देखा कि आकाशवाणी, जंघा तथा 'गँवार' का अर्थ कुछ से कुछ हो गया है। अर्थ में परिवर्तन हो जाना ही अर्थ—परिवर्तन है।

अर्थ—परिवर्तन की दिशाएँ (प्रकार)

अर्थ—परिवर्तन किन—किन दिशाओं में होता है', अथवा 'उसके कितने प्रकार होते हैं', इस विषय पर सबसे पहले फ्रांसीसी भाषाविज्ञानवेत्ता ब्रील ने विचार किया था। उन्होंने तीन दिशाओं की खोज की : अर्थ—विस्तार, अर्थ—संकोच, अर्थदेश। अभी तक ये ही दिशाएँ अथवा प्रकार बहुस्वीकृत हैं।

अर्थ—विस्तार—अर्थ—विस्तार का अर्थ है अर्थ का सीमित क्षेत्र से निकल विस्तार पा जाना। उदाहरण के लिए, संस्कृत का एक शब्द है 'तैल' जिसका मूल अर्थ है 'तिल का रस'। अर्थात् संस्कृत में मूलतः, 'तिल के तेल' को ही 'तैल' कहते थे। यही इसका व्युत्पत्तिमूलक अर्थ था। हिन्दी आदि आधुनिक भाषाओं का 'तेल' शब्द इसी 'तैल' से विकसित है, किन्तु इसका अर्थ विस्तृत हो गया है। 'तैल' का मूल अर्थ था 'तिल का तेल', किन्तु तेल का प्रयोग अब सभी चीजों के तेल के लिए होता है, तिल, सरसों, अलसी, गरी अथवा गोला, मूँगफली आदि, बिनौला और यही क्यों? मछली का तेल, साँप का तेल, मिट्टी का तेल और तो और, यदि किसी को दोपहर की चिलमिलाती धूप में कहीं किसी काम से भेज दे तो वह लौट कर पसीने से लथपथ शिकायत करेगा— साहब, अपने तो मेरा तेल निकाल लिया। तो हमने देखा कि तेल

के अर्थ का विस्तार हो गया। कहाँ तो वह केवल तिल के तेल का अर्थ देता था और कहाँ सभी चीजों के तेल का अर्थ देने लगा। विशेष से सामान्य हो गया। टकर का कहना है कि अर्थ—विस्तार नहीं होता। किन्तु वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। होता है और खूब होता है।

सब्ज़' का अर्थ है हरा'। पहले पालक, चौलाई, भिंडी जैसी हरी तरकारियों को उनके रंग के आधार पर सब्जी' कहते थे। अब सब्जी' शब्द के अर्थ में विस्तार हो गया है और सभी रंगों की सब्जियाँ सब्जी' कहलाने लगी हैं— टमाटर, गाजर, प्याज, बैंगन, सीताफल, शलजम, मूली। व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के अर्थ भी विस्तृत हो जाते हैं। शर्त एक है, वे व्यक्ति या तो बहुत अच्छे हों या बहुत बुरे हों— बदनाम अगर होंगे तो क्या नाम न होगा। तो विभीषण, मंथरा, नारद, जयचंद, नादिरशाह, हिटलर आदि का प्रयोग उन सभी के लिए होता है जो उस प्रकार की प्रवृत्तियों के होते हैं। यों राम, सीता, सावित्री, गाँधी में भी अर्थ—विस्तार हुआ है किन्तु इनको इसके लिए साधना करनी पड़ी थी। कुछ और उदाहरण हैं : अधर (मूल अर्थ नीचे का ओष्ठ', वर्तमान अर्थ दोनों ओष्ठ), श्रीगणेश (मूल अर्थ किसी शुभ कार्य का आरम्भ जिसके प्रारम्भ में श्रीगणेशायः नमः' कहते थे, अब किसी भी अच्छे—बुरे कार्य का प्रारंभ), इतिश्री (संस्कृत—लेखक अपनी कृति के अंत में पुष्पिका में लिखते थे इति श्री कृतं समाप्तम्' आदि, अब किसी भी काम की समाप्ति इतिश्री' है), महाराज (पहले केवल महाराजा, अब खाना बनाने वाला ब्राह्मण भी), पंडित (पहले विद्वान व्यक्ति, इसीलिए पांडित्य त्र विद्वता, अब विद्वान् के साथ—साथ ब्राह्मण मात्र), कल (सं० कल्य त्र आने वाला कल, हिन्दी कलत्र आने वाला तथा बीता हुआ कल), परसों (सं० परश्वःत्र आने वाला परसों, हिं परसोंत्र आने वाला तथा बीता हुआ परसों), अभ्यास (सं० में अभ्यास) (अभि+अस) का मूल अर्थ है बार—बार फेंकना अथवा सैनिक अभ्यास, यास्क में इसका प्रयोग आवृत्ति' के अर्थ में हैं, हिन्दी में अब केवल बाण फेंकने का ही नहीं, बल्कि सभी कार्यों का अभ्यास (किया जाता है, जा सकता है), गवेषणा (मूल अर्थ गो' की एषणा' अर्थात् गाय' की इच्छा' अथवा गाय की खोज' है, अब किसी भी प्रकार की खोज' गवेषणा' है), निपुण (मूल अर्थ शुभ कार्य करने में प्रवीण—नि+पुण+क, अब किसी भी कार्य को करने में प्रवीण), प्रवीण (मूलतः वीणा बजाने में पटु—प्रकृष्टो वीणायाम्, अब किसी भी कार्य में पटु), कुशल (मूल अर्थ कुश लाने या उखाड़ने में चतुर—कुशान् लानि, अब किसी भी काम में चतुर अथवा पटु) आदि।

अर्थ संकोच— यह अर्थ—विस्तार का ठीक उल्टा है। इसमें अर्थ की परिधि पहले विस्तृत रहती है, फिर संकुचित हो जाती है। उदाहरण के लिए संस्कृत 'मृग' का मूल अर्थ 'पशु' है।

'शिकार' का वाचक 'मृगया' तथा 'पशुओं के राजा' सिंह के लिए 'मृगराज' के प्रयोग में मूल अर्थ आज भी सुरक्षित है। किन्तु आगे चलकर इस शब्द के अर्थ में संकोच हो गया और सभी पशुओं का वाचक शब्द 'मृग' केवल 'हिरन' का वाचक हो गया। यह अर्थ संकोच संस्कृत में ही हो गया था। वस्तुतः अर्थ—संकोच में अर्थ 'सामान्य' से परिवर्तित होकर 'विशेष' हो जाता है। 'मृग' 'सामान्य पशु' से 'विशेष पशु' हो गया है। एक सिद्धान्त यह है कि भाषा में मूलतः शब्द सामान्य के लिए थे, अर्थ संकोच द्वारा धीरे—धीरे विशेष के लिए शब्दों का निर्धारण हुआ। इसी लिए अर्थ—संकोच भाषा की अभिव्यंजना—शक्ति की संपन्नता का द्योतक है। मेरा अपना सिद्धान्त कुछ भिन्न है। अपवादों की बात छोड़ दें तो पहले भाषाओं में

'विशेष' के लिए ही शब्द थे और धीरे—धीरे 'सामान्य' के लिए अर्थ—विस्तार से शब्द निश्चित होते गए। ब्रील ने कहा है कि जो जाति जितनी उन्नति करेगी, उसकी प्रवृत्ति उतनी ही अधिक मिलेगी। 'जलज' मूलतः 'जल में जनमने वाली किसी भी चीज का वाचक रहा होगा, जैसे ही 'पंकज' 'पंक' में जनमने वाली हर चीज थी, किन्तु बाद में अर्थ—संकोच हुआ और ये दोनों शब्द केवल 'कमल' के वाचक रह गये। 'विद्यार्थी' मूलतः 'वे सभी लोग हैं जो 'विद्या' के

'अर्थी' हैं चाहे वे स्कूल में पढ़ते हों या न पढ़ते हों, या सत्तर वर्ष के बुढ़े हों। अब यह शब्द अर्थ—संकोच के कारण 'छात्र' का समानार्थी हो गया है। 'धान्य' और 'यव' मूलतः 'अन्न—मात्र' के लिए प्रयुक्त होते थे। 'धन—धान्य' से पूर्ण जैसे प्रयोगों में 'धान्य' का वही अर्थ है। आगे चलकर ये दोनों शब्द अर्थ संकोच के कारण 'धान' तथा 'जौ' के वाचक हो गए। 'रदन' (मूल अर्थ 'कोई भी जो फाड़े' बाद में 'दाँत'), 'मंदिर' (मूलतः 'कोई भी भवन, बाद में 'देव—भवन'), 'सब्जी' (मूलतः 'हरियाली' अथवा 'कोई भी हरी चीज, अब 'तरकारी'), 'संध्या' (मूलतः 'कोई भी संधि—काल, संध्या—गायत्री में वह अर्थ सुरक्षित है, अब केवल 'शाम'), 'मीट' (यह अंग्रेजी शब्द मूलतः 'खाद्य' का द्योतक था, 'मिठाई' को 'स्वटमीट' इसलिए कहते हैं, अब यह केवल एक 'खाद्य' 'गोस्त' का वाचक है), 'भार्या' (मूलतः 'जो भरण—पोषण करने योग्य हो, बाद में केवल 'स्त्री'), 'वेदना' (मूलतः 'सुखद वेदना' तथा 'दुखद वेदना', अब केवल 'दुखद वेदना'), 'सूर्य' (फ़ारसी में मूलतः 'पक्षी, 'शुतुरमुर्ग', 'शाहमुर्ग', 'मुर्गापीर जलपक्षी') में यही अर्थ, बाद में

केवल एक पक्षी), पिल्ला (मूलतः द्रविड़ भाषाओं में बच्चा'। तेलुगु में आज किसी की भी बच्ची—मनुष्य, जानवर, पक्षी— को पिल्ला कहते हैं, जैसे कुक्कपिल्ल— कुत्ते को पिल्ला', हिन्दी में पिल्ला—कुत्ते का बच्चा) आदि अन्य उदाहरण हो सकते हैं। इस प्रसंग में यह भी संकेत्य है कि शब्दों का धीरे—धीरे समय बीतने के साथ परिवर्तित होते—होते तो संकुचित होता ही है, उपसर्ग (आचार—सदाचार, दुराचार) प्रत्यय (कुटी—कुटीर, देग—देगचा, बाग—बगीचा), विशेषण (अम्बर—नीलांबर, पीतांबर, श्वेतांबर, घोड़ा— लाल घोड़ा, काला घोड़ा, छोटा घोड़ा, तेज घोड़ा) समास (अनुज—रामानुज, कृष्णानुज), संदर्भ का प्रसंग (रति और खाने—पीने के प्रसंग में रस'—राम बहुत तेज लड़का है, चाकू बहुत तेज है, वह तेज दौड़ता है), पारिभाषिकीकरण (भाषाविज्ञान और गणित में समीकरण', काव्यशास्त्र एवं वैद्यक में रस', भाषाविज्ञान एवं काव्यशास्त्र में व्युत्पत्ति', ध्वनि', गुण', व्याकरण में विराम'), नामकरण (कृष्ण'— मूल अर्थ काला' है, किन्तु वासुदेव का नाम पड़ने से अब कृष्ण' सभी कालों का बोधक न होकर केवल वासुदेव का है, शत्रुघ्न, क्षिप्रा—तेज बहने वाली घाघरा—घर्घर करती हुई बहने वाली, केशरी— केशों वाला, घुसपैठिया—मूलतः कोई भी, भारत—पाक—युद्ध के बाद भारत में घुसने वाला पाकिस्तानी', अन्य भाषा से शब्द—ग्रहण (शब्द' अपनी मूल भाषा के सभी अर्थों में दूसरी भाषा में प्रायः नहीं जाते, कुछ सीमित अर्थों में ही जाते हैं। अंग्रेज़ी में कॉलर' का प्रयोग मछली का टुकड़ा, आभूषण—विशेष आदि कई अर्थों में होता है, किन्तु हिन्दी में वह केवल एक अर्थ (कपड़ों का कॉलर) में प्रयुक्त होता है। फैशन आदि अन्य भी अनेक शब्द इसी प्रकार के हैं। संस्कृत में धरा' का अर्थ योनि, गर्भाशय, शिरा, गूदा आदि भी था, किन्तु हिन्दी में केवल पृथ्वी' के लिए यह शब्द प्रयुक्त होता है) आदि के कारण तुरन्त एक क्षण में उसके अर्थ में संकोच आ जाता है।

अर्थादेश—

भाव—साहचर्य के कारण कभी—कभी शब्द के प्रधान कर्म के साथ एक गौण अर्थ भी चलने लगता है। कुछ दिन में ऐसा होता है कि प्रधान अर्थ का धीरे—धीरे लोप हो जाता है और गौण अर्थ में ही शब्द प्रयुक्त होने लगता है। इस प्रकार एक अर्थ के लोप होने तथा नवीन अर्थ के आ जाने को अर्थादेश' कहते हैं। ऊपर हम गँवार' शब्द ले चुके हैं। यहाँ हम देख चुके हैं कि गाँव वाला' अथवा गाँव का लड़का अर्थ का वाचक शब्द धीरे—धीरे असभ्य'

का वाचक हो गया। इसका उदाहरण असुर' का दिया जा सकता है। ऋग्वेद की आरम्भ की ऋचाओं में यह देववाची शब्द है, पर बाद में राक्षसवाची हो गया। वर' का अर्थ श्रेष्ठ था, पर अब इसका प्रयोग दूल्हे' के लिए होता है। स्वयं दूल्हा' शब्द भी इसी प्रकार है। इसका मूल अर्थ जो जल्द न मिले। ईरानी शब्द दिहकान' का मूल अर्थ देहात का बड़ा ताल्लुकेदार' है, पर उर्दू तथा फ़ारसी-गुजराती में देहकान' का मूल अर्थ देहात का बड़ा ताल्लुकेदार' है, पर उर्दू तथा फ़ारसी-गुजराती में देहकानी' का अर्थ मूर्ख होता है। अशोक देवानां-प्रियः' कहा जाता है, पर बाद में इसका अर्थ मूर्ख' हो गया। संस्कृत का वाटिका' शब्द बँगला में बाड़ी' हो गया है और उसका अर्थ बगीचे से हठ का घर' हो गया है। बौद्ध धर्म के अनुयायी बौद्ध कहलाते हैं, पर बुद्ध' का अर्थ मूर्ख होता है। जंघा (मूलतः जंघा घुटने के नीचे का भाग, अब घुटने के ऊपर का भाग), दुहिता (मूल अर्थ दूध दूहने वाली बाद में पुत्री चाहे वह दूध दूहे अथवा नहीं, आकाशवाणी (मूलतः देववाणी, अब रेडियो), तटस्थ (तट पर स्थित, अब किसी का भी पक्ष न लेने वाला), मुहावरों में भी यह प्रवृत्ति मिलती है, तिलाजलि देना (मूलतः मृत्यु के बाद हाथ में तिल और पानी लेकर मृतक के नाम पर देना, अब छोड़ देना), खाट खड़ी करना (मूलतः किसी के मरने पर उसकी मृत्यु होने के संकेतस्वरूप उसकी खाट उलटी खड़ी कर देना, अब दुर्दशा करना' अथवा ऐसी-तैसी कर देना आदि।

अर्थादेश के आगे कई भेदोभेद किये जा सकते हैं। यहाँ दो आधारों पर भेद किये जा रहे हैं :-

क. **सूक्ष्मता-सूलिता के आधार पर-** शब्दों का अर्थ बदलते-बदलते कभी तो सूक्ष्म से सूलि हो जाता है और कभी सूलि से सूक्ष्म। इस आधार पर अर्थादेश दो प्रकार के हो सकते हैं-

1. **सूक्ष्मीकरण-कुर्सी-** पद, हाथ लम्बे होना-पहुँच होना, पानी-इज्जत, आँख की किरकिरी-खटकने वाला, बुरा लगने वाला, नाक का बाल-अत्यंत प्रिय, परदा-दुराव, छिपाव, रोटी-जीविका, जहर-बुरा, हृदय-विशाल हृदय अथवा हृदय-पक्ष जैसे प्रयोगों में इनमें कुछ में अर्थ विस्तार की भी गंध आ सकती है।

2. **स्थूलीकरण-देवता (मूलतः देव+ता-देवत्व) देव, यौवन (भाववाचक संज्ञा),** जोबन-स्तन, सामग्री (मूलतः संचय)-चीजें, वस्तुयें, लिंग-पुरुष चिन्ह, पुराण (प्राचीन)-पुराण ग्रन्थ, उपनिषद् (गुरु के चरणों के पास ज्ञान-प्राप्ति के लिए बैठना)-ग्रन्थ-विशेष। मिटाई (मूलतः

मिठास)–मिष्ठान्न, खटाई (मूलतः खटास)– आम आदि से बनी वस्तु है। इनमें कुछ में अर्थ–संकोच की भी गंध आ सकती है। वस्तुतः सूक्ष्म अपेक्षाकृत विस्तृत तथा स्थूल अविस्तृत होता है।

ख. उपकर्षोत्कर्ष के आधार पर– शब्दों का अर्थ परिवर्तन होते–होते, सामाजिक दृष्टि से कभी तो ऊपर उठ जाता है, कभी ज्यों का त्यों रहता है तथा कभी नीचे गिर जाता है– 1. अर्थोत्कर्ष–अर्थ का बदलते–बदलते सामाजिक दृष्टि से पहले से अधिक उन्नत हो जाना। साहित्य संस्कृत में बहुत अच्छा शब्द नहीं था। उसका अर्थ लूट, हत्या, चोरी, व्यभिचार आदि था। स्मृतियों में उसकी गणना अपराधों में की गई है। मनुष्यमारणं चौर्यं परदाराभिर्मर्शनम्। पारुष्यमुभयं चेनि साहसं नयाच्चतुर्विधम्। किन्तु अब साहस का अर्थ हिम्मत है। किसी को साहसी का जाय तो यह अपनी प्रशंसा समझकर प्रसन्नता से फूला नहीं समायेगा।

अर्थ–परिवर्तन के कारणों का आधार–

मनुष्य की मनःस्थिति में सर्वदा परिवर्तन होता रहता है, जिसके फलस्वरूप उसके विचार भी एक से नहीं रह पाते। भाषा विचारों की वाहिका है, अतः उसे भी विचारों का साथ देना पड़ता है। इस साथ देने के प्रयास में ही उसके शब्दों में अर्थ–परिवर्तन आ जाता है। इस परिवर्तन के मूल में कार्य करने वाले कारणों पर विचार करना आसान नहीं है, क्योंकि वे इतने संयुक्त और गुंथे रहते हैं कि उनका निश्चित स्वरूप दिखाई ही नहीं पड़ता। एक शब्द के अर्थ–परिवर्तन पर विचार करते समय कभी एक कारण दिखाई पड़ता है, तो कभी दूसरा। फिर भी, एक बात तो निश्चित सी है कि सादृश्य, बल तथा भाव–साहचर्य ही घूम–फिर कर अर्थ–परिवर्तनों में अधिक कार्य करते दिखाई पड़ते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ सामाजिक और भौगोलिक कारण भी होते हैं, किन्तु इनका भी प्रभाव सीधा न पड़कर उन्हीं के रास्ते पड़ता है। यों कभी–कभी व्यक्ति या संप्रदाय में विचार–विभिन्नता के कारण भी अर्थ–परिवर्तन हो जाता है। नीचे इस सम्बन्ध में कुछ कारणों पर हम लोग विस्तृत रूप से विचार करेंगे। यहाँ एक बात ध्यान में रखे रहना आवश्यक है कि किसी भी शब्द में एक ही कारण काम नहीं आ सकता, इसी कारण, एक कारण के उदाहरणों में अन्य कारणों की भी गंध मिल सकती है। कारणों के इस संयुक्त कार्य के कारण ही एक ही प्रकृति के उदाहरण दो भिन्न कारणों में भी यहाँ दिये गये हैं, किन्तु अपने–अपने स्थान पर कारणों का अपना पक्ष स्पष्ट दिया गया है।

इन कारणों में कई को एक में मिलाकर कुछ कम वर्ग भी बनाये जा सकत हैं, लेकिन स्पष्टता की दृष्टि से यहाँ ऐसा नहीं किया गया।

अर्थ—परिवर्तन के कारण

बल का अपसरण— किसी शब्द के उच्चारण में यदि केवल एक ध्वनि पर बल देने लगे तो धीरे—धीरे शेष ध्वनियाँ कमजोर पड़ कर लुप्त हो जाती हैं। उपाध्यायजी परिवर्तित होकर

ओझा' इसी बल के अपसरण के कारण हुए हैं। ध्वनि की ही भाँति अर्थ में भी यह बल' कार्य करता है। किसी शब्द के अर्थ के प्रधान पक्ष से हटकर, बल यदि दूसरे पर आ जाता है तो धीरे—धीरे वही अर्थ प्रधान हो जाता है, और प्रधान अर्थ बिल्कुल लुप्त हो जाता है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि बल कैसे प्रधान पक्ष से हटकर गौण पर जाता है। इसका निश्चित उत्तर नहीं दिया जा सकता। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि भाव—साहचर्य का ही यह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव है, जिसमें समीपवर्ती दो भावों में एक भाव विजयी बन जाता है। यहाँ कुछ उदाहरण लिये जा सकते हैं। 'गोस्वामी' शब्द का आरम्भ का अर्थ था 'बहुत—सी गायों का स्वामी'। 'बहुत—सी गायों का स्वामी' धनी' होगा, अतः 'माननीय' भी होगा। इसी प्रकार, धीरे—धीरे इसका अर्थ माननीय हुआ। वहीं एक और भावना कार्य करने लगी। वह भावना यह थी कि जो अधिक गायों की सेवा करेगा, वह धर्मपरक भी होगा। इस प्रकार, बल के अपसरण से 'गोस्वामी' शब्द 'गायों के स्वामी' के अर्थ से चलकर 'मानवीय धार्मिक व्यक्ति' का वाचक हो गया। इसी अर्थ में यह मध्ययुगीन सन्तों के नाम के साथ प्रयुक्त होता है। यों बाद में 'गोस्वामी' की व्याख्या 'इन्द्रियों का स्वामी' के अर्थ में भी की गयी, लेकिन वह बाद में व्याख्या मात्र है। मूल अर्थ वह था नहीं। अब तो गोस्वामी या गोसाईं नाम की एक जाति भी हो गई है। 'जुगुप्सा' शब्द का अर्थ—परिवर्तन भी इसका अच्छा उदाहरण है। यह शब्द 'गुप्' धातु से बना है, जिसका आरम्भ का अर्थ था 'रक्षा करना', 'पालन करना'।

'रक्षा' या 'पालन' छिपाकर भी किया जाता है। अतः इसमें छिपाने का भाव आने लगा और कुछ दिनों में यही भाव प्रधान हो गया। अधिकतर वही क्रिया या वस्तु छिपाई जाती है, जो घृणित होती है, अतएव घृणा के लिए इसका प्रयोग चल पड़ा। आज भी जुगुप्सा का प्रयोग घृणा के लिए होता है। अरबी का शब्द 'गुलाम' तथा अंग्रेजी का 'नेव' ये दोनों भी इसी प्रकार के हैं। दोनों का आरम्भ का अर्थ 'लड़का' है, किन्तु बल के अपसरण के कारण दोनों

का अर्थ अब बहुत नीचे गिर गया है। लड़के नौकर रखे जाते थे तथा वे प्रायः बन्दी जैसे रहते थे, अतः उसी पर बल पड़ते-पड़ते अरबी का 'गुलाम' उधर पहुँचा, और नौकर शरारती और बदमाश होते हैं, अतः उस पर बल पड़ते-पड़ते 'नेव' बेचारा शरारसी और बदमाश का अर्थ देने लगा। 'ड्रेस' का प्राचीन अर्थ है सीधा। फ्रेंच में अब भय यह अर्थ है। लहटे या शहतीर को सीधा करने के लिए काटना-छाँटना पड़ता था, अतः 'सफाई करना' अर्थ हुआ। फोड़े घाव की ड्रेसिंग में वही अर्थ है। चमड़े की सफाई भी की जाती थी, जूता आदि बनाने के लिए, अतः ड्रेस में 'तैयार करने' का अर्थ आया। सलाद को 'ड्रेस' अब भी करते हैं। बाल भी ड्रेस करने लगे, अतः इसमें सजाने का भाव आया और 'ड्रेस' सजाने वाला कपड़ा हो गया। हिन्दी में 'दरेसी' में कटाई-छँटाई का भाव अब भी है।

वातावरण में परिवर्तन— वातावरण में परिवर्तन हो जाने के कारण भी कुछ शब्दों में अर्थ-परिवर्तन हो जाता है। वातावरण कई प्रकार के हो सकते हैं, अतः सभी को अलग-अलग लेना उचित होगा। जैसे— भौगोलिक वातावरण, सामाजिक वातावरण, प्रथा या प्रचलन सम्बन्धी वातावरण, नम्रता प्रदर्शन, आधार सामाग्री के आधार पर वस्तु का नाम, निर्माण क्रिया के आधार पर वस्तु का नाम, शब्द का एक भाषा से दूसरी भाषा में जाना, जान-बूझकर नये अर्थों में प्रयोग, अशोभन के लिए शोभन भाषा का प्रयोग, अशुभया बुरा, अश्लील, कटुता या भयंकरता, अंधविश्वास, गंदे या छोटे कार्य, अधिकांश शब्दों के स्थान पर एक शब्द का प्रयोग, सादृश्य, अज्ञान, पुनरावृत्ति, एक शब्द को दो स्थानों का प्रचलन, शब्दों का अधिक प्रयोग, एक वर्ग के एक शब्द में अर्थ-परिवर्तन, साहचर्य आदि के कारण अर्थ का प्रयोग, किसी शब्द, वर्ग या वस्तु में एक विशेषता का प्राधान्य, व्यङ्ग्य, भावावेश, व्यक्ति योग्यता, शब्दों में अर्थ का अनिश्चय, सामान्य के लिए विशेषता प्रयोग, आलंकारिक य लाक्षाणिक प्रयोग तथा दूसरी भाषा के प्रभाव आदि अनेकों अर्थपरिवर्तन के कारण है।

वैदिक और लौकिक संस्कृत का स्वरूप साम्य और वैषम्य

भारतीय आर्य भाषा— भारत में आर्य भाषा के प्रारम्भ का बहुत निश्चित काल देना तो सम्भव नहीं है, किन्तु मोटे ढंग से यह माना जा सकता है कि 1500 ई0पू0 के आसपास से इसका प्रारम्भ होता है। तब से आज तक भारतीय आर्य भाषा की आयु लगभग साढ़े तीन हजार वर्षों की हो चुकी है। भाषिक विशेषताओं के आधार पर भारतीय आर्य भाषा की इस लम्बी आयु को

3 कालों में बाँटा गया है, और तीनों कालों में आर्य भाषा को तीन नामों से अभिहित किया गया है।

1. प्राचीन भारतीय आर्य भाषा (प्रा०भा० आ०) 1500ई०पू०—500ई०पू०
2. मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा (म०भा०आ०) 500ई०पू०—1000ई०
3. आधुनिक भारतीय आर्य भाषा (आ०भा०आ०) 1000ई०—अब तक।

प्राचीन आर्य भाषा— आर्य जब भारत में आये, उस समय उनकी भाषा तत्कालीन ईरानी भाषा से कदाचित् बहुत अलग नहीं थीं। किन्तु जैसे—जैसे यहाँ के प्रत्यक्ष एवं परोक्ष, प्रभाव, विशेषतः आर्येत्तर लोगों से मिश्रण के कारण पड़ने लगे, भाषा परिवर्तित होने लगी। इस प्रकार वह अपनी भगिनी—भाषा ईरानी से कई बातों में अलग हो गयी। भारतीय आर्य भाषा का प्राचीनतम रूप वैदिक संहिताओं में मिलता है। इनमें रूपाधिकृत है, नियमितता की अपेक्षाकृत कमी है और अनेक प्राचीन शब्द हैं जो शब्द में नहीं मिलते। वैदिक संहिताओं का काल मोटे रूप में 1200ई०पू० से 900 ई०पू० के लगभग है। यों वैदिक संहिताओं की भाषा में भी एकरूपता नहीं है। कुछ की भाषा बहुत पूर्ववर्ती है, तो कुछ की परवर्ती। उदाहरणार्थ अकेले ऋग्वेद में ही प्रथम और दसवें मण्डलों की भाषा तो बाद की है, और शेष की पुरानी। यही पुरानी भाषा अपेक्षाकृत अवेस्ता के निकट है। अन्य संहिताएँ (यजुः, साम, अथर्व) और बाद की हैं। वैदिक संहिताओं की भाषा तत्कालीन बोलचाल की भाषा से कुछ भिन्न है क्योंकि यह काव्य—भाषा है। उस समय तक आर्यों का केन्द्र सप्तसिन्धु या आधुनिक पंजाब था, यद्यपि पूर्व में वे बहुत आगे तक पहुँच गये थे। ब्राह्मणो—उपनिषदों की भाषा कुछ अपवादों को छोड़कर संहिताओं के बाद की है। इसमें उत्तनी जटिलता एवं रूपाधिकृत नहीं है। इनके गद्य भाग की भाषा तत्कालीन बोलचाल की भाषा के बहुत निकट है। इस समय तक आर्यों का केन्द्र मध्यदेश हो चुका था, यद्यपि इधर की भाषा उत्तर जितनी शुद्ध नहीं थी। इस भाषा का काल 900 से बाद का है। भाषा का और विकसित रूप सूत्रों में मिलता है। इसका काल 700ई०पू० के बाद का है। यह संस्कृत पाणिनीय संस्कृत के काफ़ी पास पहुँच गई है। यद्यपि उसमें पाणिनीय संस्कृत की एकरूपता नहीं है। इसी काल के अन्त में लगभग 5वीं सदी में पाणिनी ने अपने व्याकरण में संस्कृत के उदीच्य में प्रयुक्त रूप के अपेक्षाकृत अधिक परिनिष्ठित एवं पण्डितों में मान्य रूप को नियमबद्ध किया, जो सदा—सर्वदा के लिए लौकिक या क्लैसिकल संस्कृत का सर्वमान्य

आदर्श बन गया। पाणिनि के रचना के बाद बोलचाल की भाषा पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, आधुनिक भाषाओं के रूप में विकास करती आज तक आई है, किन्तु संस्कृत में साहित्य-रचना में इसके समानान्तर ही होती चली आ रही है, जो मूलतः पाणिनीय संस्कृत होने पर भी हर युग की बोलचाल की भाषा का अनेक दृष्टियों से कुछ प्रभाव लिए हुए है और यही कारण है कि बोलचाल की भाषा न होने पर भी, उस साहित्यिक संस्कृत में भी विकास होता आया है। भाषा के जानकारों से यह बात छिपी नहीं है कि रामायण-महाभारत की भाषा पाणिनि के बाद की है। पुराने पुराणों की भाषा और भी परवर्ती है। फिर कालिदास से होते क्लैसिकल संस्कृत हितोपदेश तक तथा और आगे तक आई है।

इस प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के वैदिक और लौकिक संस्कृत दो रूप मिलते हैं।

वैदिक- (1500ई0पू0 से 800 ई0पू0 तक) इसे 'प्राचीन संस्कृत', 'वैदिकी', 'वैदिक संस्कृत' या 'छन्दस' आदि अन्य नामों से भी पुकारा गया है। संस्कृत का यह रूप, वैदिक संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों तथा प्राचीन उपनिषदों आदि में मिलता है। यों इन सभी में भाषा का कोई एक सुनिश्चित रूप नहीं है। जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, वैदिक साहित्य में इस भाषा का विकास होता दिखाई पड़ता है, फिर भी कुछ ध्वन्यात्मक एवं व्याकरणिक बातें ऐसी हैं, जिनको वैदिक की सामान्य विशेषताएँ माना जा सकता है। तत्कालीन बोलचाल की भाषा इसके समीप रही होगी, किन्तु इसका यह आशय नहीं कि बोलचाल की भाषा के सभी रूप इसमें सुरक्षित हैं।

ध्वनियाँ-मूल भारोपीय एवं भारत-ईरानी से संस्कृत की (वैदिक तथा लौकिक) कुछ प्रमुख एवं महत्त्वपूर्ण ध्वनियों का विकास किस रूप में हुआ, यहाँ देखा जा सकता है। कुछ स्थानों पर तो भारोपीय के पुनर्निर्मित तारांकित रूप दिये गये हैं और कुछ में मात्र ग्रीक या लैटिन आदि के ही रूप दिये गये हैं। उक्त प्रकार के स्थानों में उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत ग्रीक या लैटिन आदि के शब्दों या रूपों में प्रयुक्त सम्बद्ध ध्वनि मूल भारोपीय का प्रतिनिधित्व करती है। उदाहरण के अभाव में कहीं-कहीं अवेस्ता आदि से ही तुलना करके संतोष करना पड़ता है।

सं० अ : (1) भारो० 'अ से (भारो० 'हमपए ग्री० 'हमपए अवे० 'पजपए सं० अजति, ग्री० 'हतवेए लै० 'हमतए अं० 'बतमए सं० अज्र)। (2) भारो० ' ह्रस्व ए से (भारो० 'मेजपए ग्री० मेजपए लै० मेजए अवे० 'जपलं अस्तिय, सं० अस्ति, लै० मुन्नेए अवे अस्प, सं० अश्व)। (3) भारो० ' ह्रस्व ओ से

(भारो० 'चवजपेए ग्री० चवेपेए लै० चवजपेए अवे० पइतिश्, सं० पतिः, ग्री० कवउवेए लै० कवउनेए रूसी कवउए सं० दम)। (4) भारो० ' न से (भारो० 'जदजवेए ग्री० जंजवेए सं० ततः)। (5) भारो० ' म् से (भारो० कमाउए ग्री० कमांए लै० कमबमउए गोथिक जंपीनउए सं० दश)।

स्वराघात— मूल भारोपीय भाषा में स्वराघात बहुत महत्वपूर्ण था। आरम्भ में वह बलात्मक था, जिसके कारण मात्रिक अपश्रुति विकसित हुई, बाद में वह संगीतात्मक हो गया, जिसने गुणिक अपश्रुति को जन्म दिया। इस भाषा-परिवार के विघटन के समय स्वराघात केवल उदात्त तथा स्वरित था। भारत-ईरानी स्थिति में अनुदात्त भी विकसित हो गया। इस प्रकार वैदिक संस्कृति को परम्परागत रूप से अनुदात्त, उदात्त, एवं स्वरित तीन प्रकार के स्वराघात प्राप्त हुए थे। स्वराघात का इतना अधिक महत्व था कि सभी संहिताओं, कुछ ब्राह्मणों एवं आरण्यकों तथा वृहदारण्यक आदि कुछ उपनिषदों की पांडुलिपियाँ स्वराघात-चिह्नित मिलती हैं और स्वराघात के वैदिक छन्दों को पढ़ना अशुद्ध माना जाता है। स्वराघात के कारण शब्द का अर्थ भी बदल जाता था। 'इन्द्रशत्रुः' वाला प्रसिद्ध उदाहरण सर्वविदित है : इन्द्र, शत्रुः ऋ जिसका शत्रु इन्द्र है। शब्द आदि के अर्थ जानने में स्वराघात का कितना महत्व था, यह बेंकट माधव के अंधकारे दीपिकाभिर्गच्छन्न स्खलति क्वचित्। एवं स्वरेः प्रणीतानां भवन्त्यर्थाः स्फुटा इव' (अर्थात् जैसे अन्धकार में दीपकों की सहायता से चलता हुआ कहीं ठोकर नहीं खाता, उसी प्रकार स्वरों (स्वराघात) की सहायता से किये गये अर्थ स्फुट और संदेहशून्य होते हैं) कथन से स्पष्ट है। स्वराघात में परिवर्तन से कभी-कभी लिंग में भी परिवर्तन हो जाता था।

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है वैदिक स्वराघात तीन प्रकार के थे : उदात्त अर्थात् उच्च, अनुदात्त अर्थात् निम्न तथा स्वरित अर्थात् मध्य। उदात्त, अनुदात्त तो स्पष्ट है, किन्तु स्वरित विवादास्पद है (दे० लेखक के ग्रन्थ 'भाषा-विज्ञान कोश' में 'स्वरित')। यों मोटे रूप से समाहारः 'स्वरितः' के आधार पर स्वरित को उदात्त तथा अनुदात्त का समाहार कहा जा सकता है।

वैदिक साहित्य में स्वराघात के अंकित करने की कई पद्धतियाँ प्रचलित रहीं हैं। उदाहरणार्थ ऋग्वेद, अथर्ववेद आदि में प्रायः उदात्त अचिह्नित मिलता है, अनुदात्त के नीचे पड़ी रेखा खींचते हैं तथा स्वरित के ऊपर खड़ी रेखा, जैसे अग्रिना। सामवेद में उदात्त के लिए 1,

स्वरित के लिए 2, तथा अनुदात्त के लिए 3, लिखने की परम्परा रही है। बर्हिषि। शतपथ ब्राह्मण आदि में केवल उदात्त को चिन्हित करते रहे हैं : पुरुषः।

ऐतिहासिक दृष्टि से वैदिक में मूल स्वराघात प्रायः उसी अक्षर पर है, जिस पर मूल भारोपीय में था : ग्रीक सं० तत्, स्, किन्तु विस्तार में बहुत अन्तर है। पहले लोग संस्कृत स्वराघात को मूल भारोपीय सा मानते थे, किन्तु अब इस दृष्टि से ग्रीक अधिक समीप मानी जाती है।

वैदिक भाषा में प्रायः सभी शब्दों या पदों पर स्वराघात होता है। कुछ च, वा, इव जैसे शब्द स्वराघातशून्य होते हैं। यों बहुत से ऐसे भी रूप होते हैं जो कुछ स्थितियों में तो स्वराघातयुक्त होते हैं, और कुछ में स्वराघातशून्य। उदाहरणार्थ सम्बोधन का रूप यदि वह वाक्यारम्भ में न हो तो प्रायः स्वराघातशून्य होता है। वैदिक संस्कृत में प्रतिपादिक, समास, संधि, कारकरूप, क्रिया तथा नामधातु आदि के स्वराघात के नियम अलग-अलग हैं।

टर्नर के अनुसार वैदिक संस्कृत में संगीतात्मक एवं बलात्मक दोनों ही स्वराघात था।

रूप-रचना- वैदिक भाषा में लिंग तीन थे : पुलिंग, स्त्रीलिंग, नपुंसकलिंग। वचन भी तीन थे : एक०, द्वि०, बहु०। कारक आठ थे : कर्ता, सम्बोधन, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध, अधिकरण।

विशेष (1) अकारान्त शब्दों को छोड़कर अन्य अपने मूल रूप में ही कर्ता एक० नपुं० में आते हैं। अकारान्त में म् लगता है। (2) सम्बोधन के रूप केवल स्वरांत स्त्री० पु० एकवचन छोड़कर प्रायः कर्ता के रूपों के समान होते हैं। मन्, अन्, मंत, वंत आदि कई स्वरान्त प्रातिपादिक (पुं०एक०) भी अपवाद हैं।

उपर्युक्त रूपों में अधिकांश मूल भारोपीय-विभक्ति से सीधे आये हैं और प्रयोग एवं रूप की दृष्टि से उनके समीप हैं।

विशेषणों के रूप भी संज्ञा की तरह चलते थे।

मूल भारोपीय में सर्वनाम के मूल या प्रातिपादिक बहुत अधिक थे। विभिन्न बोलियों में कदाचित् विभिन्न मूलों के रूप चलते थे। पहले सभी मूलों से सभी रूप बनते थे, किन्तु बाद में मिश्रण हुआ और अनेक मूलों के अनेक रूप लुप्त हो गये। परिणाम यह हुआ कि मूलतः

विभिन्न मूलों से बने रूप एक ही मूल के रूप माने जाने लगे। वैदिक भाषा में उत्तम पुरुष में ही, यद्यपि प्राचीन पंडितों ने 'अस्मद्' को सभी रूपों का मूल माना है, किन्तु यदि ध्यान से देखा जाय तो अह— (अहम्), म— (माम्, मया, मम, मम, मयि), आव (आवम्, आवाम्, वाम्, आवयोः), वय (वयं), अस्म (अस्माभिः, अस्मभ्यम्, अस्मे आदि), इन पाँच मूलों पर आधारित रूप हैं। मध्यम आदि अन्य सर्वनामों में भी एकाधिक मूल हैं। इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वनामों के पीछे अनेक मूल—रूपों की परम्परा है। अधिकांश सर्वनामों की परम्परा मूल भारोपीय भाषा तक खोजी गई है। जैसे भारो से अहम् से तू आदि। सर्वनामों की कारकीय विभक्तियाँ प्रायः संज्ञाओं जैसे ही हैं।

वैदिक भाषा में धातुओं के रूप आत्मने, परस्मै दो पदों में चलते थे। कुछ धातुएँ आत्मनेपदी, कुछ परस्मैपदी एवं कुछ उभयपदी थीं। आत्मनेपदी रूपों का प्रयोग केवल अपने लिए होता था तथा परस्मै का दूसरों के लिए। क्रियारूप तीनों वचनों एवं तीनों पुरुषों में होते थे। काल तथा क्रियार्थ मिलाकर क्रिया के कुल 10 प्रकार के रूपों का प्रयोग मिलता है। लट्, लङ्, लुङ्, लुट्, निश्चयार्थ, सम्भावनार्थ, विध्यर्थ, आदरार्थ, आज्ञार्थ तथा अज्ञार्थ, ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में लेट् का प्रयोग बहुत मिलता है, किन्तु धीरे—धीरे इसका प्रयोग कम होता गया और अन्त में लौकिक संस्कृत में पूर्णतः समाप्त हो गया। वैदिक में भविष्य के रूप बहुत कम हैं। उसके स्थान पर प्रायः सम्भावनार्थ या निश्चयार्थ का प्रयोग मिलता है। क्रिया—रूपों में तीन विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं— 1. कुछ रूपों में धातु के पूर्व भूतकरण आगम अ—या—आ आता था। (लङ्, लृङ् में)। 2. धातु तथा तिङ् प्रत्ययों के बीच, कुछ धातुओं में विकरण जोड़े जाते थे। विकरण के आधार पर धातुओं के दस गण या वर्ग थे। जुहोत्यादि एवं अदादिगण विकरण रहित थे, शेष में निम्नांकित विकरण थे— भ्वादि में उ दिवादि में य, स्वादि में नु, तुदादि में स्वराघातयुक्त अ, रुधादि में न, तनादि में न, क्र् यादि में ना, तथा चुरादि में अय। 3. इच्छार्थक, अतिशयार्थक, लट्, लिट्, लुङ् में द्वित्व का प्रयोग होता है। इसमें महाप्राण के द्वित्व में महाप्राण का अल्पप्राण हो जाता है। कण्ठ्य का वर्ग के क्रमानुसार तालव्य हो जाता है, तथा अन्य स्थानों पर प्रायः द्वित्व होता है। यदि ऊष्म से धातु का आरम्भ हो तथा बाद में अघोष ध्वनि हो तो वही ध्वनि फिर आ जाती है, यदि वह महाप्राण हो तो उसका अल्पप्राण हो जाता है, तथा कण्ठ्य हो तो तालव्यः स्था—तस्था, स्कन्द—चस्कन्द, स्वज्—सस्वज्।

समास— समास रचना की प्रवृत्ति मूल भारोपीय एवं भारत—ईरानी में भी थी। वहीं से यह परम्परा वैदिक संस्कृत में आई। वैदिक में समस्त पद प्रायः दो शब्दों के ही मिलते हैं। इससे अधिक शब्दों के समास अत्यन्त विरल हैं। जहाँ तक समास के रूपों का प्रश्न है, वैदिक में केवल तत्पुरुष, कर्मधारय, बहुब्रीहि एवं द्वन्द्व ये चार ही समास मिलते हैं। लौकिक संस्कृत के शेष दो बाद में विकसित हुए हैं।

शब्द— वैदिक भाषा में शब्दों की दृष्टि से दो बातें उल्लेखनीय हैं। एक तो यह कि अनेक तथाकथित मूल शब्द से विकसित या तद्भव शब्द प्रयुक्त होने लगे। वेदों में 'इह' (यहाँ) इसी प्रकार का है। इसका मूल शब्द 'इध' है। पालि 'इध' और अवेस्ता 'इद' इस बात के प्रमाण हैं कि महाप्राण व्यंजन के स्थान पर 'ह' के विकास से 'इध' से ही 'ह' बना है।

बोलियाँ— आर्य कदाचित् एकाधिक टोलियों में भारत में आये और इन टोलियों में भी आपस में कुछ भाषिक विभिन्नता थी। इसका आशय यह है कि 'आर्य भाषा' के भारत में आने के पहले ही उसमें सच्चे अर्थों में भाषिक एकरूपता नहीं थी। उदाहरण के लिए विद्वानों का विचार है कि मूल भारोपीय के 'र', ल भारत—ईरानी में प्रायः 'र्' ही हो चुके थे, और भारतीय आर्य भाषा में फिर नये सिरे से 'र्' अनेक शब्दों में 'ल' में विकसित हो गई। यही कारण है ऋग्वेद में 'लृ' 'र्' की तुलना में बहुत कम मिलती है तथा परवर्ती साहित्य में धीरे—धीरे उसमें वृद्धि हुई है। यों मेरा विचार है कि प्रमुख भारत—ईरानी में तो मूल भारोपीय के 'र्' 'ल्' का विकास 'र्' में हो चुका था, किन्तु उस समय भी कुछ टोलियाँ या बोलियाँ ऐसी थीं, जिनमें

'लृ' पूर्णतः लुप्त नहीं हुई थी। इस प्रकार कुछ दृष्टियों से अनेकरूपताओं से युक्त भारतीय आर्य भाषा भारत में आई, और यह ज्यों—ज्यों पूर्व की ओर फैलती गई, इसका स्वरूप स्थानीय भाषाओं के प्रभाव के कारण बदलता गया। ब्राह्मण ग्रंथों से इस बात का पता चलता है कि वैदिक काल में प्राचीन आर्य भाषा के कम से कम तीन रूप—या तीन बोलियाँ—अवश्य थे : पश्चिमोत्तरी, मध्यवर्ती, पूर्वी। प्रथम अफ़ग़ानिस्तान से लेकर पंजाब तक था, दूसरा पंजाब से मध्य उत्तर प्रदेश तक तथा तीसरा उसके पूर्व। यदि 'र्'—'ल्' यों को ही आधार मानें तो कह सकते हैं कि पश्चिमोत्तरी बोली का ही प्रतिनिधित्व हुआ है। पश्चिमोत्तरी बोली में स्थानीय प्रभाव प्रायः बहुत कम पड़ा था, क्योंकि स्थानीय आर्यतर जातियाँ कुछ अपवादों को छोड़कर, वहाँ से भागकर दक्षिण पूर्व चली गई थीं। इसी कारण पश्चिमोत्तरी बोली को आदर्श माना

गया। उसे उस समय 'उदीच्य' या 'उत्तरी' कहते थे। कौशीतकि ब्राह्मण (7-6) में आता है : तस्मादुदीच्यां प्रज्ञाततरा वायुद्यते। उदंच उ एव यन्ति वायं शिक्षितुम्। यो वा तत आगच्छति, तस्य या शुश्रूषन्त इति। अर्थात्— उत्तर में अधिक विज्ञता से, या प्रामाणिक भाषा बोली जाती है। उत्तर दिशा में ही बोलना सीखने जाते हैं। जो वहाँ से आता है, उससे सुनना चाहते हैं। मध्यदेशीय विशेषतः पूर्वी लोग संयुक्त व्यंजन, स्वराघात, सन्धि में तो गड़बड़ी करते ही थे, साथ ही 'र्' का 'ल्' भी कर देते थे। शतपथ ब्राह्मण (3-2-1-23) में कहा गया है : तेऽसुरा आत्तवसचो हेऽलव हेऽलव इति वदन्तः परावभूवुः। पतंजलि ने अपने महाभाष्य (पस्पशान्हिक) में भी इसी को दोहराया है : तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः परावभूवुः। अर्थात् वे असुर 'हे, अरयः' के स्थान पर 'हेलयः हेलयः' उच्चारण करते हुए पराभव को प्राप्त हुए। यहाँ भी 'र्' 'ल्' की ओर संकेत है। इसी प्रकार उधर 'य्' के स्थान पर 'व्' उच्चरित करने की प्रवृत्ति भी थी।

किन्तु भाषा के ये तीन रूप सामान्य लोगों में थे। पण्डितों की भाषा एक सीमा तक परिनिष्ठित थी, और उपलब्ध वैदिक साहित्य में कुछ अपवादों को छोड़कर प्रायः उसी का साहित्यिक रूप मिलता है।

पूर्ववर्ती एवं परवर्ती वैदिक भाषा— प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के प्रथम रूप वैदिक के भी दो रूप मिलते हैं। पहला रूप ऋग्वेद के प्रथम एवं दसवें मंडल को छोड़कर अन्य मण्डलों तथा अन्य प्राचीन ऋचाओं आदि की भाषा में है तथा दूसरा उक्त दो मण्डलों में, अन्य वेदों में के परवर्ती भागों में तथा आरण्यकों, उपनिषदों आदि में। वैदिकी के इन दोनों रूपों में प्रमुख अन्तर निम्नांकित हैं—

— 1. टवर्गीय यों पूर्ववर्ती में बहुत कम हैं पर परवर्ती में उनका अनुपात बढ़ गया है। 2. पूर्ववर्ती 'र्' का प्रयोग अधिक है, किन्तु परवर्ती में 'ल्' का प्रयोग भी पर्याप्त है। ऐसे शब्द भी हैं, जिनमें पूर्ववर्ती वैदिकी में 'र्' है तो परवर्ती में 'ल्' — रोमन्— लोमन्, म्रुच—म्लुच। 3. यह संकेत किया जा चुका है कि वैदिकी में प्राचीन घ, ध, भ् आदि महाप्राणों का 'ह' हो रहा था। यह प्रवृत्ति इस काल में भी काम कर रही थी। इसीलिए महाप्राणों के स्थान पर 'ह' पूर्ववर्ती भाषा में कम मिलता है, किन्तु परवर्ती में अपेक्षाकृत अधिक है। उदाहरणार्थ प्राचीन वैदिक गृभाण,

परवर्ती वैदिक संस्कृत गृहाण। इसी प्रकार पूर्ववर्ती आज्ञार्थ— घि (तिङ् प्रत्यय) के स्थान पर परवर्ती में हि मिलता है।

व्याकरण— व्याकरणिक दृष्टि से भी कई अन्तर हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि नाम एवं धातु के रूपाधिक्य एवं अपवाद परवर्ती में बहुत कम हो गये हैं, और परवर्ती की भाषा वैदिकी को छोड़कर लौकिक संस्कृत की ओर बढ़ती चली आ रही है। पूर्व वैदिकी में देवाः देवैः के अतिरिक्त देवासः, देवेभिः रूप भी हैं, किन्तु परवर्ती में देवासः, देवेभिः जैसे रूप अन्यन्त विरल हो गये हैं। अश्विना' जैसे द्विवचन रूप भी परवर्ती में प्रायः नहीं मिलते। पुरापने कृणुम् : जैसे रूपों के स्थान पर परवर्ती में कुर्मः जैसे रूप मिलते हैं। यह वस्तुतः ध्वन्यात्मक परिवर्तन के कारण हुआ है। नु विकरण में न् के लोप के कारण ' उ' रह गया है। अन्य भी इस प्रकार के अनेक रूपीय अन्तर हैं।

शब्द— शब्दों के क्षेत्र में सबसे प्रमुख बात यह हुई कि अनेक पूर्ववर्ती शब्द समाप्त हो गए, और वे परवर्ती वैदिकी में नहीं मिलते। ईम, वीति, विचर्षणि ऐसे ही शब्द हैं। इसके विरुद्ध परवर्ती वैदिकी में अनेक ऐसे शब्द प्रयुक्त होने लगे जो पूर्ववर्ती में नहीं मिलते। इसके अतिरिक्त यों तो पूर्ववर्ती वैदिकी में भी, आस्त्रिक, द्रविड़ आदि शब्द आ गये थे, किन्तु उसकी संख्या अत्यल्प थी, पर परवर्ती वैदिकी में उनकी संख्या अपेक्षाकृत बढ़ गई।

ऊपर जो बातें पूर्ववर्ती वैदिकी की तुलना में परवर्ती वैदिकी में कही गई हैं, परवर्ती वैदिकी या वैदिकी की तुलना में लौकिक संस्कृत या संस्कृत में भी प्रायः उन्हीं का आधिक्य मिलता है।

संस्कृत— इसे 'लौकिक संस्कृत' तथा 'क्लैसिकल संस्कृत' भी कहते हैं। भाषा के अर्थ में संस्कृत (संस्कार की गई, शिष्ट या अप्रकृत) शब्द का प्रथम प्रयोग वाल्मीकि रामायण में मिलता है। वैदिक काल में भाषा के तीन भौगोलिक रूपों— उत्तरी, मध्यदेशी, पूर्वी— का उल्लेख किया जा चुका है। लौकिक संस्कृत का मूल आधार इनमें उत्तरी बोली थी, क्योंकि वही प्रामाणिक मानी जाती थी। पाणिनि ने अन्यों के भी कुछ रूप आदि लिए हैं और उन्हें वैकल्पिक कहा है। इस प्रकार मध्यदेशी तथा पूर्वी का भी संस्कृत पर कुछ प्रभाव है। लौकिक या क्लैसिकल संस्कृत साहित्यिक भाषा है, अतः जिस प्रकार हिन्दी में जयशंकर प्रसाद की गद्य या पद्य भाषा को बोलचाल की भाषा नहीं कह सकते, उसी प्रकार संस्कृत को भी बोलचाल की

भाषा नहीं कह सकते। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि जिस प्रकार प्रसाद जी की भाषा का आधार परिनिष्ठित खड़ी बोली हिन्दी है, जो बोलचाल की भी भाषा है, उसी प्रकार पाणिनीय संस्कृत भी तत्कालीन पण्डित समाज की बोलचाल की भाषा पर ही आधारित है। पाणिनि द्वारा उसके लिए 'भाषा' (भाष् + बोलना) शब्द का प्रयोग, सूत्र 'प्रत्यभिवादेऽशूद्रे' दूर से बुलाने में 'प्लुत' के प्रयोग का उनके द्वारा उल्लेख, बोलचाल के कारण विकसित संस्कृत को व्याकरण की परिधि में बाँधने के लिए कात्यायन द्वारा वार्तिकों की रचना, ये बातें यह सिद्ध करती हैं कि संस्कृत कभी बोलचाल की भाषा थी। अतः हार्नले, वेबर तथा ग्रियर्सन आदि पश्चिमी विद्वानों का यह कथन कि संस्कृत बोलचाल की भाषा नहीं थी, निराधार है। संस्कृत, भारतीय भाषाओं (आर्य तथा आर्येतर) की जीवनमूल तो रही है, साथ ही तिब्बती, अफ़गानिस्तानी, चीनी, जापानी, कोरियाई, सिंहली, बर्मी तथा पूर्वी द्वीप-समूह की भी अनेकानेक भाषाओं को इसने अनेक-विशेषतः शाब्दिक-स्तरों पर प्रभावित किया है।

ऊपर वैदिक भाषा की प्रमुख विशेषताएँ उल्लिखित हैं। लौकिक संस्कृत उससे मूलतः बहुत अधिक भिन्न नहीं है। इसलिए इसकी सभी विशेषताओं को विस्तार से अलग गिनाने की आवश्यकता नहीं है। यहाँ केवल वैदिक और लौकिक संस्कृत में अन्तरों का ही उल्लेख किया जा रहा है।

वैदिक तथा लौकिक संस्कृत में अन्तर

कारण— दोनों में अन्तर के प्रमुख कारण ये हैं—

1. वैदिक भाषा का बहुत कुछ स्वरूप बाहर से बनकर आया था, और उसमें यहाँ जो कुछ परिवर्तन हुए थे भारतीय वातावरण, समाज एवं आर्येतर भाषाओं के तुरंत पड़े हुए प्रभाव से ही उत्पन्न थे, किन्तु संस्कृत भाषा के बनने तक ये प्रभाव बहुत गहरे पड़ चुके थे और उन्होंने संस्कृत भाषा की पूरी व्यवस्था को प्रभावित किया।
2. यहाँ आने पर आर्यों ने नागरिक सभ्यता, द्रविड़ों से अपनाई, अतः जीवन में अधिक एकरूपता आई, व्यवस्था बढ़ी। इसका प्रत्यक्ष एवं परोक्ष प्रभाव उनकी भाषा पर भी पड़ा और उसमें भी एकरूपता आई।

3. नगरिक जीवन में नियमित पठन-पाठन एवं साहित्य-रचना को प्रोत्साहन मिला, इससे भाषा को एक परिनिष्ठित रूप देना पड़ा। परिणामतः भाषा में परिनिष्ठन आया, अपवाद निकल गए, किन्तु साथ ही उसमें शिष्ट जीवन की कृत्रिमता की गन्ध भी आ गई।
4. समाज के विकास के साथ-साथ चिन्तन एवं ज्ञान-परिधि में विस्तार हुआ, भाषा का नियमित अध्ययन-विश्लेषण होने लगा, व्याकरण लिखे जाने लगे, लोगों ने सरलता तथा विचारों की सफल अभिव्यक्ति आदि की दृष्टि से भाषा की एकरूपता, नियमितता के महत्व को समझा, अतः पूर्ववर्ती भाषा की जटिलताएँ धीरे-धीरे अपने-आप छँट गईं।
5. यों में विकास आर्योत्तर प्रभावों, आर्योत्तर लोगों द्वारा उनका ठीक उच्चारण न किए जाने एवं सरलीकरण की प्रवृत्ति के कारण हुआ।
6. शब्दों में परिवर्तन का कारण था, पुराने जीवन से आगे बढ़ने के कारण शब्दों का छूट जाना तथा नए जीवन की अभिव्यक्ति की पूर्ति के लिए नए शब्दों का आगमन। लौकिक संस्कृत में ये नए शब्द कुछ तो द्रविड़, आस्ट्रिक आदि भारतीय भाषाओं के से लिए गए, कु आवश्यकतानुसार ईरानी, ग्रीक या अरबी आदि से आए तथा कुछ व्याकरण के नियमों या भ्रामक व्युत्पत्ति के आधार पर बन गए या बनाए गए।

अन्तर— जैसा कि पीछे भी संकेत किया जा चुका है, इन दोनों में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि वैदिक भाषा का, लौकिक की तरह परिनिष्ठीकरण नहीं हुआ था, इसी कारण लौकिक, जिस रूप में परिनिष्ठित एवं साहित्यिक है, वैदिक नहीं है। वैदिक अपने साहित्यिक रूप में भी संस्कृत की तुलना में जनभाषा कहलाने की अधिक अधिकारिणी है। इस स्थिति का प्रभाव दोनों के व्याकरण पर भी पड़ा है। वैदिक में जहाँ परिनिष्ठीकरण एवं नियमन कम होने से रूप की जटिलताएँ हैं, अनेकरूपताओं एवं अपवादों का आधिक्य है, लौकिक में वे या तो हैं ही नहीं, या हैं भी तो वैदिक की तुलना में बहुत ही कम। दूसरे शब्दों में वैदिक भाषा अपने बोलने वालों की तरह ही अधिक स्वच्छन्द है, किन्तु लौकिक अपने अपेक्षाकृत अधिक संस्कृत एवं नियमित समाज की तरह नियमबद्ध है, एकरूप है, इसी कारण पहली अधिक कठिन है तो दूसरी उसकी तुलना में अधिक सरल। दोनों के प्रमुख अन्तरों को कुछ शीर्षकों के अन्तर्गत

विस्तारपूर्वक भी देखा जा सकता है जैसे- ध्वनि, स्वराघात, संधि, समास, कारक, विभक्ति, कृत-प्रत्यय, क्रियारचना एवं शब्दों आदि के द्वारा।